छहढाला का सार

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

छहढाला का सार

पहला प्रवचन

(सोरठा)

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै॥

कल्याणस्वरूप और कल्याण करनेवाला वीतराग-विज्ञान तीन लोकों में सारभूत है; अतः मैं उसे मन-वचन-काय को सम्हालकर नमस्कार करता हूँ।

छहढाला के मंगलाचरण का उक्त छन्द पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक के मंगलाचरण का ही प्रतिरूप है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के मंगलाचरण में भी वीतराग-विज्ञान को नमस्कार किया गया है तथा उसे मंगलमय और मंगल को करनेवाला बताया गया है। इस मंगलाचरण के छन्द में भी यही बात कही गई है।

मोक्षमार्गप्रकाशक का मंगलाचरण इसप्रकार है –

(दोहा)

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये, अरहंतादि महान॥

जिसके आश्रय से अरहंत भगवान अरहंत बने, वह वीतराग-विज्ञान मंगलमय और मंगल करनेवाला है। मैं उस वीतराग-विज्ञान को नमस्कार करता हूँ।

यह तो आप जानते ही हैं कि दोहा के पदों का स्थान परिवर्तन कर देने से सोरठा बन जाता है। मोक्षमार्गप्रकाशक के दोहारूप मंगलाचरण को सोरठा छन्द में इसप्रकार बदला जा सकता है –

(सोरठा)

वीतराग-विज्ञान, मंगलमय मंगलकरण।
अरहंतादि महान, नमो ताहि जाते भये।।

इसीप्रकार छहढाला के मंगलाचरण के सोरठा को भी दोहा में बदला जा सकता है।

यह छहढाला नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में न केवल सर्वमान्य है, अपितु अत्यन्त लोकप्रिय भी है। ऐसे लोग तो इस जगत में मिल जायेंगे, जो समयसार का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ें; लेकिन ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा कि जिसे छहढाला स्वीकृत न हो। इसलिए मैं कहता हूँ कि दिगम्बर जैन समाज की एकता का यदि कोई सबसे बड़ा आधार बन सकता है तो यह छहढाला ग्रन्थ बन सकता है।

शायद आपको यह पता नहीं है कि जिन दौलतरामजी ने यह छहढाला लिखी है, वे दिल्ली निवासी थे। आपने पढ़ा होगा कि उनका जन्म हाथरस के पास सासनी (उ. प्र.) में हुआ था।

मेरा जन्म भी उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले के एक छोटे से गाँव बरौदास्वामी में हुआ था; पर अब मैं ४० वर्ष से जयपुर में रह रहा हूँ। ऐसी स्थिति में मैं आपसे ही पूछना चाहता हूँ कि मैं कहाँ का हूँ ? अब आप मुझे कहाँ का मानते हैं – जयपुर का या बरौदास्वामी का?

अब तो आप मुझे जयपुर का ही मानते है न ?

इसीप्रकार पण्डित दौलतरामजी ने अपने जीवन के अन्तिम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष दिल्ली में ही बिताये थे; इसलिए हम उन्हें दिल्ली का कहे या सासनी का? जन्म सासनी में हुआ होगा, उनके पिताजी वगैरे हाथरस में व्यापार करते थे। वे भी उनके साथ कुछ दिन हाथरस में व्यापार करते रहे। फिर कुछ दिन वे मथुरा भी रहे। कई जगह घूमे, लेकिन उनका समाधिमरण दिल्ली में ही हुआ था।

छहढाला का सार

लेखक
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पी-एच. डी.

प्रकाशक
रवीन्द्र पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट
एवं
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५
फोन : (०१४१) २७०७४५८, फैक्स : २७०४१२७
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण (दिनांक : २३ जनवरी २००७)	:	२ हजार
द्वितीय संस्करण (दिनांक : ३१ मार्च २००७) महावीर जयंती	:	७ हजार
योग	:	९ हजार

मूल्य :
पेपरबैक : १२ रुपये
सजिल्द : १५ रुपये

टाईपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ सं.
पहला प्रवचन	१
दूसरा प्रवचन	२१
तीसरा प्रवचन	४१
चौथा प्रवचन	६१
पाँचवाँ प्रवचन	८१
छठवाँ प्रवचन	१०१
सातवाँ प्रवचन	१२१

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

'छहढाला का सार' नामक इस कृति के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। जैसा कि आपको विदित ही होगा कि इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट, जयपुर के माध्यम से दो माह पूर्व ही दो हजार की संख्या में किया गया था। अल्प अवधि में ही कृति का समाप्त होना इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

छहढाला अपर नाम छोटा समयसार का अनेक कवियों ने मराठी भाषा में तथा कन्नड भाषा में भी काव्यमय अनुवाद किया है; पर सारस्वरूप विवेचन अबतक किसी ने नहीं किया है। ऐसे लोकप्रिय ग्रन्थ के सारस्वरूप यह कृति डॉ. भारिल्ल के समयसार का सार, प्रवचनसार का सार के समान ही स्वाध्यायप्रिय पाठकों के लिये एक अत्यावश्यक विषय प्राप्त हो रहा है।

हमारा विचार इस छहढाला के सार को मराठी एवं कन्नड भाषा में अनुवादित करके प्रकाशित करने का है। इसीप्रकार मोक्षमार्गप्रकाशक का सार भी पाठकों के करकमलों में अतिशीघ्र देने का मानस है।

छहढाला ग्रन्थ लोकप्रिय होने से अनेक माता-बहिने एवं बालकों को कण्ठस्थ है। इस कृति के कारण पाठशाला के विद्यार्थियों के लिये एवं पढ़ानेवाले अध्यापकों के लिये छहढाला का सार यह कृति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

भविष्य में हमारा विचार इसप्रकार है कि डॉ. भारिल्ल जो बोलेंगे, उसे प्रकाशित करके साहित्यरूप में स्थायी बनाया जाये। वैसे डॉ. भारिल्ल के समयसार आदि अनेक ग्रंथों के तथा अन्य विशिष्ट विषय पर भी जो सैकड़ों प्रवचन हुये हैं; उनके कैसेट, सी. डी., वी. सी. डी. आदि उपलब्ध हैं; उनका समाज अत्यंत उत्साह से उपयोग कर रही है, इसका भी हमें आनंद है।

जिनवाणी रसिक एवं धनवानों से मेरा निवेदन है कि उनके द्वारा ऐसे सामान्य जनोपयोगी साहित्य घर-घर पहुँचे – ऐसा प्रयास किया जाना धर्मप्रभावना के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। अनेक उत्साही लोग ऐसा कार्य कर ही रहे हैं। इस कृति को भी दातार घर-घर पहुँचाने का मानस बनावे – यह हमारा सुझाव है।

डॉ. भारिल्ल की साहित्य-साधना अविरत चलती रहे – इसी भावना के साथ–

अध्यक्ष — **ब्र. यशपाल जैन**, एम. ए.

रवीन्द्र पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, — प्रकाशन मंत्री,

मुम्बई — पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार (ज्ञायकभाव प्रबोधिनी)	५०.००
समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००
समयसार का सार	३०.००
प्रवचनसार का सार	३०.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३०.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	(प्रेस में)
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००
चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००
तीर्थ.महावीर और उनका सर्वो.तीर्थ	१५.००
धर्म के दशलक्षण	१६.००
क्रमबद्धपर्याय	१२.००
बिखरे मोती	१६.००
सत्य की खोज	१६.००
अध्यात्मनवनीत	१५.००
आप कुछ भी कहो	१०.००
आत्मा ही है शरण	१५.००
सुक्ति-सुधा	१८.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१५.००
दृष्टि का विषय	१०.००
गागर में सागर	७.००
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	८.००
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
आ.कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१२.००
पश्चात्ताप	७.००
मैं कौन हूँ	४.००
निमित्तोपादान	४.००
अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
रीति-नीति	३.००
शाकाहार	२.५०
तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
चैतन्य चमत्कार	२.००
गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
बिन्दु में सिन्धु	२.००
बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	१.००
शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
समयसार पद्यानुवाद	३.००
योगसार पद्यानुवाद	०.५०
समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
अर्चना जेबी	१.००
कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००

न केवल समाधिमरण हुआ, पर अन्तिम समय में अनेक वर्षों तक वे दिल्ली में ही रहे और उन्होंने सम्मेदशिखर की यात्राएँ भी दिल्ली के समाज के साथ की। इसलिए अब यह ठीक ही है कि वे दिल्लीवासी ही थे।

इस छहढाला की विषयवस्तु और प्रतिपादन क्रम महापण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक से और प्रतिपादन शैली महाकवि बुधजनजी से प्रभावित है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि **लख बुधजन की भाख**। बुधजन कवि ने भी इसके पहले एक छहढाला लिखी थी। उसे देखकर इन्हें छहढाला लिखने का उत्साह जागृत हुआ।

यद्यपि बुधजनजी के पहले द्यानतरायजी ने भी एक छहढाला लिखी थी, लेकिन वह इतनी लोकप्रिय नहीं हो पाई; जितनी बुधजनजी की हुई। दौलतरामजी की छहढाला तो हर आदमी के कंठ का हार बन गई है।

यह छहढाला छह प्रकार के छन्दों में है, इसे छह रागों में गाया जाता है, इन्हीं रागों को ढाल कहा जाता है। इसप्रकार इस कृति का नाम छहढाला रखा गया। पहली ढाल चौपाइयों में, दूसरी ढाल पद्धरी छन्द में, तीसरी ढाल नरेन्द्र छन्द (जोगीरासा) में, चौथी ढाल रोला छन्द में, पाँचवीं ढाल चाल छन्द में और छठवीं ढाल हरिगीतिका छन्द में है।

दूसरी बात यह है कि एक तलवार होती है और एक ढाल। तलवार मारने के काम आती है और ढाल अपनी रक्षा के काम आती है।

हम जैनी अहिंसक हैं, इसलिए हम मारने की बात तो कभी सोच भी नहीं सकते; परन्तु अपनी सुरक्षा की चिंता तो हरेक को होती ही है।

इसलिए हमें ढाल की जरूरत है, तलवार की नहीं। हमें खतरा भी इस जगत के जीवों से नहीं; अपने ही राग, द्वेष, मोह – इन विकारी भावों से है। इन भावों से बचाने के लिए यह छहढाला ढाल का काम करता है, इसलिए इसका नाम है छहढाला।

हमने ढालें तो छह-छह रखीं, पर तलवार एक भी नहीं रखी; क्योंकि हमें मारने का काम करना ही नहीं है।

एक प्रश्न है कि 'प' का 'ष' बनाना हो, षटकोणवाला 'ष' बनाना हो अथवा 'व' का 'ब' बनाना हो तो क्या करें ? इस प्रश्न के उत्तर में क्षत्रिय कहेगा कि पेट चीर दो; लेकिन जैनी कहेगा पेट भर दो। क्रिया एक ही है, लेकिन उसे जैनी भरना बोलता है, चीरना नहीं बोलता। चीरने की भाषा, मार-काट करने की भाषा जैनियों की भाषा नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के समान इसमें भी सबसे पहले पहली ढाल में संसार के दुःखों का वर्णन है। मोक्षमार्गप्रकाशक के दूसरे अधिकार में संसार के दुःखों के कारण बताये हैं। इसकी भी दूसरी ढाल में दुःखी होने का कारण क्या है – यह बताया है।

छहढाला को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी तो छोटा समयसार कहा करते थे। यह छोटा समयसार सबकी समझ में आता है और सभी को सहज भाव से स्वीकृत है।

बहुत दिनों पहले की बात है, मैं एक जगह गया था, वहाँ एक संस्था चलायी जाती थी, जिसमें लड़कियाँ पढती थीं।

वहाँ की अध्यापिकाओं ने मुझसे कहा – इन लड़कियों से आप कुछ पूछो, इनकी कुछ परीक्षा लो। मैंने कहा – इसकी क्या जरूरत है ? आप इन लोगों को पढ़ाती हो तो इन्हें सब कुछ आता ही होगा।

जब उन्होंने अति आग्रह किया तो मैंने एक प्रश्न किया –

"छहढाला में किसकी कहानी है ?"

मेरा यह प्रश्न सुनकर वे लड़कियाँ एक-दूसरे का मुँह देखने लगीं, अपनी अध्यापिकाओं का मुख देखने लगीं। सब तरफ चुप्पी छा गई। किसी ने कोई जवाब नहीं दिया।

एक हिम्मतवाली लड़की ने हाथ ऊपर उठाकर कहा –

"साहब ! आपसे भी मेरा एक प्रश्न है।"

मैंने कहा – "बोलो, आपका क्या प्रश्न है ?"

उसने कहा – "आपने छहढाला पढ़ा है क्या ?"

मैंने सोचा गजब हो गया। हम परीक्षा लेने चले थे, यहाँ तो परीक्षा देने की नौबत आ गई। मैंने कहा – "बहन ! तुम ऐसा क्यों पूछ रही हो?"

तो उसने कहा – "छहढाला में कोई कहानी थोड़े ही है, वह तो अध्यात्म का ग्रन्थ है। वह प्रथमानुयोग थोड़े ही है कि जिसमें राम की, कृष्ण की, महावीर की कहानी हो। मुझे तो ऐसा लगता है कि आपने छहढाला पढ़ा ही नहीं और हमसे पूछते हैं कि इसमें किसकी कहानी है?

मैंने कहा – तुम ठीक कहती हो, मैंने शुरू के दो-तीन छन्द पढ़े थे, इसलिए ऐसा भ्रम हो गया है। उनमें लिखा था कि –

तास भ्रमण की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा।

संसारी जीव के संसारभ्रमण की कहानी बहुत विस्तारवाली है; किन्तु मैं तो जिसप्रकार पहले मुनिराजों ने कही है, उसके अनुसार थोड़ी-बहुत कहूँगा।

इसमें कविवर प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि मैं उस कहानी को थोडी-बहुत कहता हूँ। कहानी तो बहुत लम्बी है, पूरी कहना तो संभव नहीं है; फिर भी थोडी-बहुत कहता हूँ। हमारे आचार्य भगवन्तों ने जैसी कही है, वैसी मैं कहता हूँ। मैंने सोचा – यदि उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की है तो कहानी भी कही होगी।

अरे भाई ! छहढाला में सभी जीवों की कहानी है; हमारी-तुम्हारी – सबकी, बहनों की, भाईयों की; इस जगत् में जितने जीव हैं, उन सभी की कहानी है इस छहढाला में। यह कहानी कहाँ से शुरू होती है

और कहाँ समाप्त होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि –

काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।

यह कहानी निगोद से आरंभ होती है और मोक्ष में जाकर समाप्त होती है; जहाँ वे – **रहीहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।**

जो जीव मोक्ष में चले गये हैं, अनन्त सुखी हो गये हैं; वहाँ वे अनन्त काल तक रहेंगे। जबतक मोक्ष में नहीं गये तो समझ लेना कि हमारी कहानी अभी समाप्त ही नहीं हुई, बीच में ही चल रही है।

सिद्धों की भी समाप्त कहाँ हुई ? अभी भी चल ही तो रही है। वे सिद्ध जीव अनन्त काल इसीप्रकार अनन्त सुखी रहेंगे।

एक राजा था, उस राजा की यह आदत थी कि जो भी फरियादी उसके पास आता और राजा से कहता कि उसने मुझे पीट दिया।

तब राजा उससे पूछता था कि फिर क्या हुआ ?

फिर क्या हुआ, फिर क्या हुआ ? – ऐसे पूछता ही रहता था।

आखिर वह फरियादी अन्त में कहता – इसके बाद कुछ नहीं हुआ; तब राजा कहता कुछ नहीं हुआ तो जाओ।

आखिरकार अन्त में तो कहना ही पड़ेगा न कि कुछ नहीं हुआ।

एक आदमी उस राजा के पास गया और उसने कहा कि मैंने खेती की और गेहूँ बोये। राजा ने पूछा – फिर क्या हुआ ?

उसने कहा – अच्छी बरसात हुई, इतने अधिक गेहूँ पैदा हुए कि मैं उन्हें समेट नहीं सका। फिर क्या हुआ ? मैंने एक वेयर हाऊस किराये से लेकर, गेहूँ बोरों में भरकर, सब गेहूँ उसमें रख दिये।

राजा ने कहा – फिर क्या हुआ ?

एक चिड़िया आती, गेहूँ का एक दाना लेकर फुर्र करके उड़ जाती। चिड़िया आई, एक दाना लिया और फुर्र करके उड़ गई।

फिर क्या हुआ? चिड़िया आई.....।

राजा ने पूछा तेरी यह फुर-फुरबाजी समाप्त होगी या नहीं ?

उसने कहा – साहब ! गेहूँ तो बहुत पैदा हुआ था न, चिड़िया तो एक-एक दाना ही लेकर जाती है। जब गेहूँ पूरी तरह खाली हो, तब ही तो कहानी समाप्त होगी न?

आखिर में उसने कहा कि हजूर जब आपकी यह फिर-फिर बाजी समाप्त होगी, तब मेरी यह फुर-फुरबाजी समाप्त होगी।

इसीप्रकार कहानी सिद्धों में समाप्त थोड़े ही हुई? वे तो अनन्त काल तक वहीं पर रहेंगे। यह ऐसी कहानी है कि जो कभी समाप्त नहीं होती।

क्या आप जानते हैं कि सिद्धांत किसे कहते हैं और सिद्धांतशास्त्र किसे कहते हैं ?

जिस बात का अन्त सिद्धदशा में जाकर हो, उसका नाम है सिद्धान्त। उक्त नियमानुसार छहढाला असली सिद्धान्तशास्त्र है; क्योंकि इसका अन्त सिद्ध-अवस्था में जाकर होता है।

देखो ! अपने जितने भी पुराण हैं, उन सभी में सैकड़ों भवों की कहानियाँ हैं; वे सभी कहानियाँ सिद्धदशा में ही समाप्त होती हैं।

सिनेमा में जाते हो तो कहानी का अन्त कहाँ होता है ?

अरे ! हिन्दुस्तान के सिनेमा की एक ही स्टाईल है। दो लड़कियाँ और एक लड़का अथवा एक लड़की और दो लड़के। उनमें से एक खत्म हो गया, दो की आपस में शादी हो गई। हाथ में हाथ मिलाया और बस कहानी खत्म।

भारतीय नाट्यशास्त्र का यह नियम है कि प्रत्येक कहानी सुखान्त होनी चाहिए, दुखान्त नहीं होनी चाहिए। ये दुखान्त कहानियाँ विदेश

से आई हैं। शेक्सपियर ने सबसे पहले दुखान्त नाटक लिखे, उनकी नकल पर हिन्दुस्थान में लिखे जाने लगे।

दो हजार वर्ष पूर्व भरत मुनि हुये हैं। उन्होंने महाकाव्य और नाटक के नियम लिखे हैं। उनमें साफ-साफ लिखा है कि प्रत्येक कहानी का अन्त सुखमय होना चाहिए। जैनधर्म में कहानी को तबतक समाप्त नहीं करते, जबतक जीव मोक्ष न चला जाये। चाहे आदिनाथ हों, चाहे पार्श्वनाथ या महावीर हों; उनके पच्चीसों भव सुनाये जायेंगे और अन्त में उन्हें मोक्ष में पहुँचा देंगे; तभी पुराण समाप्त होगा। इसलिए वह भी सिद्धान्तशास्त्र है।

मैं आपसे कहता हूँ कि भारतीय नियम के अनुसार यदि हर कहानी को सुखान्त होना चाहिए, तो जो कहानियाँ शादी पर समाप्त हुईं; वे सुखान्त कहाँ हुईं, वे तो भोगान्त हैं। लड़का-लड़की की शादी हुई और सुखी हो गये ? अरे भाई ! अब तो दुःख की शुरूआत हुई है।

छहढाला की पहली ढाल में यही तो बताया है कि चारों गतियों में सुख है ही नहीं, दुःख ही दुःख है। इसमें चारों गतियों के दुःखों का वर्णन है। नरक गया तो दुखान्त और स्वर्ग चला गया तो सुखान्त – यह बात कहाँ से लाये ? हम भगवान आदिनाथ की पूजा करते हैं, बहुत पुरानी पूजन है, उसकी जयमाला में आता है –

आदिश्वर महाराज हो, म्हारी दीनतणी सुन वीनती।
चारों गति के मांहि मैं दुःख पाये सो सुनो॥
ऊँट बलद भैंसा भयो, जापैं लदियो भार अपार हो।
नहिं चाल्यौ जठै गिर परयो, पापी दे सोटन की मार हो॥
म्हारी दीनतणी सुन वीनती॥

क्या कह रहे हैं – ऊँट हुआ, बैल हुआ और भैंसा हुआ।

इन तीनों को गाड़ी में जोता जाता है। बैलों को बैलगाड़ी में, ऊँटों को ऊँटगाड़ी में और भैंसों को भैंसागाड़ी में। उनपर उनकी शक्ति से ज्यादा भार लाद दिया जाता है। जब वे चल नहीं पाते हैं और गिर पड़ते हैं, तब पापी लोग उन्हें डंडों से मारते हैं। उन्हें दंडा मार-मार कर उठाया जाता है। शक्ति नहीं है, गिर पड़ा है; फिर भी कुछ दया नहीं।

पूजन चल रही है, पूजा में सारे वाद्ययंत्र बज रहे हैं, नाचनेवाले नाच रहे हैं; तब अचानक बीच में ही एक व्यक्ति बोल उठता है – आज के आनन्द की जय। अरे, भाई ! यदि आनंद आ रहा है तो रो क्यों रहे हो? आँखों में से आँसुओं की धारा क्यों बह रही है? सोटन की मार पड़ रही है तो आनन्द कहाँ से आ रहा है ?

उसे पता ही नहीं कि मुँह से क्या निकल रहा है, वह तो झाँझ-मंजीरा में ही मग्न हो गया है। अरे ! उसमें लिखा है कि चारों गतियों में दुःख ही दुःख हैं, सुख नहीं है। छहढाला में भी यही लिखा है। इसकी पहली ढाल में तो चारों गतियों के दुःखों का वर्णन है।

तिर्यंचगति के पशु-पक्षियों के दुःख तो हमें दिखते ही हैं। मारा जाना, काटा जाना, छेदन-भेदन, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि न जाने कितनी प्रतिकूलतायें हैं।

तिर्यंचगति के दुःखों का वर्णन करते हुये लिखा है –

काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्रीय तन धार।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रतेक वनस्पति थयो॥

एकेन्द्रिय अवस्था में तो निगोद में रहा और फिर वहाँ से निकलकर भूमि, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति हुआ।

साधारण वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति के भेद से वनस्पति दो प्रकार की होती है। निगोदिया जीव साधारण वनस्पति में होते हैं,

प्रत्येक वनस्पति में नहीं होते। यह जीव निगोदरूप साधारण वनस्पति में से निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हुआ।

जिसप्रकार किसी को चिन्तामणि रत्न मिल गया हो; उसीप्रकार इसे त्रसपर्याय प्राप्त हुई। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस कहलाते हैं।

चिन्तामणि रत्न देखा तो आजतक किसी ने भी नहीं है। मात्र शास्त्रों में देखा है, पर शास्त्रों में देखना भी तो देखना है। कहते हैं कि चिन्तामणि रत्न जिसके पास होता है, वह व्यक्ति जो सोचता है, वह उसे मिल जाता है।

चिन्तामणि रत्न के मिल जाने से भी क्या होता है। अरे भाई ! जबतक संयोगों में सुखबुद्धि है, जबतक भोगों की इच्छा है; तबतक सुखी होना सम्भव नहीं है; क्योंकि बात मात्र इतनी ही नहीं है कि हमें आवश्यकतानुसार भोग सामग्री चाहिये, बात तो यह है कि लौकिक वैभव मात्र हमारे ही पास हो, पड़ौसी के पास नहीं। हम इतने ईर्षालु हो गये हैं कि हमें दूसरों का वैभव सुहाता ही नहीं है। इस बात को निम्नांकित उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकता है –

एक बार एक व्यक्ति ने बहुत तपस्या की तो शंकरजी ने प्रसन्न होकर कहा – जो चाहो माँग लो। उसने माँगा कि मैं जो चाहूँ, वह हो जाये। शंकरजी ने कहा – तुम जो चाहोगे, वह हो जायेगा; लेकिन इतनी सी बात है कि जितना तुम्हें मिलेगा, उससे दुगना तेरे पड़ौसी को मिलेगा।

तात्पर्य यह है कि यदि वह हजार रुपये मांगे तो पड़ौसी को दो हजार मिल जावेंगे, लाख मांगे तो पड़ौसी को दो लाख मिल जावेंगे।

तब उसने सम्पत्ति तो नहीं माँगी, पर विपत्ति माँगी। कहा – मेरी एक आँख फूट जाय तो पड़ौसी की दोनों ही फूट गईं।

दूसरों की दोनों आँखें फोड़ने के लिए यह जीव अपनी भी एक आँख फोड़ने के लिए तैयार हो जाता है।

बोलो ऐसे जीव सुखी कैसे हो सकते हैं ?

इसप्रकार तिर्यंचगति में मारा जाना, काटा जाना, भारवहन कराना, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के असीम दुःख भोगे।

नरकगति में भी सर्दी-गर्मी इतनी कि मेरु के समान लोहे का गोला भी छार-छार हो जाय, पिघल जाय। भूख-प्यास इतनी कि तीन लोक का अनाज खा जावे, समुद्रों का पानी पी जावे; तब भी न मिटे, पर एक कण अनाज और एक बूँद पानी न मिले।

कहा भी है –

मेरु-समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।
सिन्धु नीरतैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम-जोग तैं नरगति लहै।।

देखो यहाँ कहा है कि तीन लोक में जितना अनाज पैदा होता है, वह सारा अनाज खा जाये तो भी नारकी की भूख नहीं मिटे; फिर भी खाने के लिए उसे एक दाना नहीं मिलता।

तीन लोक में अनाज कहाँ-कहाँ पैदा होता है ? देवलोक में कौनसा अनाज पैदा होता है, नरकों में कौनसा अनाज पैदा होता है? मध्यलोक में इतने समुद्र हैं, उनमें कौनसा अनाज पैदा होता है ? जमीन पर भी जहाँ लोग रहते हैं, वहाँ अनाज कहाँ पैदा होता है ? बहुत कम एरिया है, जहाँ अनाज पैदा होता है। फिर तीन लोक का अनाज क्यों बोलते हैं ?

अरे भाई ! तुम्हें कल्पना कराकर उनके दुःख का अंदाज करा रहे हैं। अनाज कहाँ-कहाँ पैदा होता है – इसका वर्णन नहीं कर रहे हैं। वे तो उस जीव की भूख व उसकी आकुलता का वर्णन कर रहे हैं।

हमारी समझ में यही आता है कि हम रोजाना दो रोटियाँ खाते हैं और हमारी भूख शान्त हो जाती है और जिस दिन हमें दो रोटियाँ नहीं मिले तो हम तड़प उठते हैं। दो रोटियाँ नहीं मिलने का दु:ख कितना होता है और उससे अंदाज लगाओ की तीन लोक के अनाज का दु:ख कितना होगा? यह कोई ऐसी बात नहीं है कि आप रिसर्च करने बैठ जायें कि कहाँ-कहाँ अनाज पैदा होता है?

आपको दो रोटी की भूख है, किसी को दस रोटी की है; लेकिन दो वाले को दो नहीं मिले और दस वाले को दस नहीं मिले तो दोनों का दु:ख बराबर ही होता है। हमारे इस जगत के जो जीव हैं, उनको यह समझ में ही नहीं आता। उनको तो सिर्फ खाने में सुख और खाना नहीं मिलने में दु:ख – यही समझ में आता है; इसलिए उनको उन्हीं की भाषा में समझाया है। प्यास लगती है तो बहुत तकलीफ होती है। एक गिलास ठंडा पानी मिल जाये तो प्यास बुझ जाती है। उन्होंने कहा –

सिन्धु नीरतैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।

समुद्र का सारा पानी पी जाये तो भी प्यास नहीं बुझै। यहाँ यह बता रहे हैं कि भूख-प्यास के दु:ख से तुम परिचित हो, और जिन दु:खों से तुम परिचित हो, उससे तुम्हें अनुमान लगाना है, बस।

इसप्रकार के अनन्त दु:ख अनेक सागरों पर्यन्त सहन किये।

मनुष्यगति में भी माँ के पेट में रहना, बचपन, जवानी और बुढ़ापे में होनेवाली अनेक प्रतिकूलताओं के दु:ख ही दु:ख भोगे।

इसप्रकार कहानी चलती रही, नरक में गया, मनुष्य हुआ और फिर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव हो गया तो भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई। और अन्त में –

जो विमानवासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।

यदि विमानवासी भी हो गया अर्थात् ऊपर के स्वर्गों में चला गया, तो भी सम्यग्दर्शन के बिना दु:खी ही रहा।

नववें ग्रैवेयक में गया तो भी सुखी नहीं हुआ। कहा भी है –

अंतिम ग्रीवकलौं की हद, पायो अनन्त विरिया पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधो, दुर्लभ निज में मुनि साधो।।

यह जीव पंचपरावर्तन करते हुये अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक तक गया, अहमिन्द्र पद पाया; किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये अनन्त दुःख उठाये।

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी तो मध्यलोक और अधोलोक में रहते हैं। स्वर्गों में ऊपर सोलह स्वर्ग, फिर नौ ग्रैवेयक, फिर नौ अनुदिश, फिर पाँच अनुत्तर हैं, उसके ऊपर सिद्धशिला है।

नवमें ग्रैवेयक में इस जीव ने ३१ सागर की आयु पाई, सभी प्रकार की अनुकूलतायें प्राप्त कीं, लेकिन सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो वहाँ भी सम्यग्दर्शन के बिना दुःख ही दुःख भोगा।

वहाँ ३१ हजार वर्ष तक मन में खाने का विकल्प भी नहीं आता। ३१ हजार वर्ष बाद जब विकल्प आता है तो गले से अमृत झर जाता है, जबान झूठी तब भी नहीं होती। ऐसी स्थिति है फिर भी यहाँ कह रहे हैं कि वहाँ पर अनन्त दुःख पाया।

प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में एक सुखाधिकार है। उसमें लिखा है – चक्रवर्ती, इन्द्र और नागेन्द्र – सभी दुःखी हैं।

यद्यपि वे सभी को बहुत सुखी दिखाई देते हैं; तथापि वे चौबीसों घंटे भोगों में मग्न रहते हैं; अतः दुःखी ही हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि चक्रवर्ती की पट्टरानी मासिक धर्म से नहीं होती, उसके बाल-बच्चे भी नहीं होते; क्योंकि यदि वह मासिकधर्म से हो, उसके बच्चे हों तो चक्रवर्ती के भोगों में बाधा पड़ेगी। चक्रवर्ती इतना पुण्यशाली होता है कि उसे निर्बाध भोगों की प्राप्ति होती है।

देखो, ऐसे चक्रवर्ती को यहाँ दुःखी कह रहे हैं? सारी विभूति

मौजूद है, छह खंडों का मालिक है, छियान्नवे हजार पत्नियों का पति है; फिर भी दुःखी।

यदि वे दुःखी नहीं हैं तो इन पाँच इन्द्रियों के विषयों में क्यों रमे हैं ? लिखा है –

सुरपति, असुरपति, नरपती इन्द्रियविषय दवदाह से पीड़ित रहें।

उन्हें पाँच इन्द्रियों के विषयों को भोगने की आकांक्षा है, उससे वे इतने पीड़ित हैं कि इन गंदे विषय-भोगों में चौबीसों घंटे लिप्त रहते हैं।

भगवान की दिव्यध्वनि छोड़कर भरत चक्रवर्ती लड़ाई लड़ने निकल गये, ९६००० शादियाँ करने निकल गये। यदि वे दुःखी नहीं हैं तो फिर यह सब क्यों, किसलिये ?

कोई कहे – मैं कभी बीमार नहीं पड़ता; क्योंकि मेरे पास दवाइयों के दो बक्से और दो डॉक्टर हमेशा साथ चलते हैं। अरे भाई ! ये दवाइयों के बक्से और डॉक्टरों का साथ चलना बीमार नहीं पड़ने की निशानी है अथवा सदा बीमार रहने की निशानी है ? इसीप्रकार यह भोग सामग्री उनके सुखी होने की निशानी है या दुःखी होने के निशानी है ?

आयुर्वेद में कहा गया है कि बकरे की पेशाब कान में डालो तो कान का दर्द ठीक हो जाता है। जब किसी के कान में दर्द नहीं हो, तब कोई उस कटोरे को छूने को भी तैयार नहीं होता; जिसमें यह पेशाब रखी हो। जब किसी के कान में भयंकर दर्द हुआ तो कहा गया कि यह बकरे की पेशाब है और कान में डालेंगे तो दर्द ठीक हो जायेगा; लेकिन यह समझ लो कि कान में डालोगे तो अकेले कान में ही नहीं रहेगी, गले में भी पहुँच जायेगी, मुँह में पहुँच जायेगी; क्योंकि अन्दर सब एक है, बाहर भले ही अलग-अलग दिखता हो। बोलो – डाले कि नहीं डाले ? वह कहेगा – देर क्यों करते हो ? जल्दी डाल दो न !

तात्पर्य यह है कि उसे भयंकर पीड़ा है, अन्यथा वह ऐसा अपवित्र

पदार्थ कान में क्यों डलवाता ? इसीप्रकार इन्द्र और चक्रवर्ती भी दु:खी हैं, अन्यथा वे भोगों में लिप्त क्यों रहते ? यह भोगों की लिप्तता उनके दु:खी होने की निशानी है।

आचार्यदेव ने प्रवचनसार की टीका में उक्त उदाहरण स्वयं दिया है। उन्होंने तो पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी इसीप्रकार के पाँच उदाहरण दिये हैं।

खाने का मजा तो तब है, जब डटकर भूख लगी हो; तब रूखी-सूखी रोटी में भी मजा आता है। यदि भूख नहीं लगी हो तो बढ़िया से बढ़िया माल-मसाले भी अच्छे नहीं लगते। भोजन का आनन्द लेने के लिए भूख लगना जरूरी है। संयोग का आनन्द लेना है तो वियोग होना जरूरी है। वियोग के बिना संयोग का आनन्द नहीं आयेगा।

अब प्रश्न है कि डटकर भूख लगना सुख है या दु:ख ? खायेंगे तब तो सुखी हो जायेंगे; लेकिन जबतक नहीं खायेंगे, तबतक सुख हुआ या दु:ख ? यदि भूख का नाम दु:ख कहे तो जब थोड़ी लगे तो थोड़ा दु:ख और अधिक लगे तो अधिक दु:ख। इसप्रकार आठ घंटे दु:खी रहे और पाँच मिनिट सुखी हुये। खाने के बाद तो हम चूरन तलाशते फिरते हैं।

यदि कोई कहे कि खाते वक्त तो सुख हुआ।

उससे कहते हैं कि खाते वक्त भी एक कौर मीठे का खाते हैं, फिर तत्काल अगला ही कौर नमकीन का खाते हैं – ऐसा क्यों ? नमकीन क्यों ? यदि मीठे में सुख है तो मीठा ही खाओ न।

नहीं, नमकीन खाकर जरा मुँह ठीक कर लूँ। इसका मतलब तो यह हुआ कि मीठा खाने से मुँह खराब हो गया। वह सुख हुआ अथवा दु:ख ? यदि नमकीन खाने से मुँह ठीक होता है तो फिर नमकीन ही नमकीन खाओ न ? फिर नमकीन, फिर मीठा – इसप्रकार बदल-बदलकर जमकर खा-पी लिया और फिर कहता है कि अब सौंफ-सुपारी लाओ। यह किसलिए ? जरा मुँह ठीक हो जाये। जिस वस्तु के

खाने के बाद मुँह ठ। ना पड़े; उसमें सुख कैसे हो सकता है ?

खाते वक्त भी वि ृख हुआ है – यह भी समझ लो। पसीना छूट रहा है – यह सुख क गनी है या दु:ख की है ? पसीने को शास्त्रों श्रमजल कहा है।

चारों गतियों में दु:ख दु:ख हैं, कहीं भी सुख नहीं है। नरक में सर्दी-गर्मी और भूख-प्यास के दु:ख, तिर्यंच गति में मारने-पीटने के दु:ख, मनुष्य गति बालपन और बुढ़ापे के दु:ख और देवगति में भी सम्यग्दर्शन के बिना दु:ख ही दु:ख हैं।

अरे भाई ! भूख-प्यास के दु:ख भोजन और पानी की कमी के कारण नहीं हैं, अपितु सम्यग्दर्शन नहीं होने के कारण हैं।

देखो ! मुनिराज जंगल में बैठे हैं, किसी व्यक्ति को आठ दिन से भोजन नहीं मिला और वह भूख से तड़प रहा है; पानी भी नहीं मिला, अत: प्यास से तड़प रहा है। वह महाराज के पास गया और बोला मुझे भूख लगी है, प्यास लगी है। मुनिराज कहें – देख भाई ! तू दु:खी भोजन की कमी से नहीं, पानी की कमी से नहीं, सम्यग्दर्शन की कमी से है।

यह सुनकर उसे गुस्सा आयेगा; वह कहेगा मैं तो तुम्हारे पास पानी मांगने आया था, जो तुम्हारे कमंडलु में है और तुम मुझे उपदेश दे रहे हो।

ऐसा क्यों होता है ? आपके हिसाब से ऐसी स्थिति में मुनियों को क्या करना चाहिए ?

जो कमंडलु कभी मँजता नहीं है, जो शुद्धि के काम आता है; क्या तुम उस कमंडलु के पानी को पी सकते हो ? नहीं तो फिर वह पानी उसे कैसे पिलाया जा सकता है ?

आप कह सकते हैं कि वह प्यास से मरा जा रहा है, आपको जल शुद्ध-अशुद्ध दिख रहा है। जान बचाने की कीमत पर तो कुछ भी खाया-पिया जा सकता है।

गया। उसने हमारा कितना खून पिया होगा ? एक बूँद का भी चौथाई भाग पिया होगा। उसको तुमसे कोई बैर-विरोध तो था नहीं। बेचारा क्या करे, भूखा था। उसके पास न तो दुकान है, न खेत हैं, न धंधा है, न कल-कारखाने हैं। क्या करता वह ? पेट तो भरना ही था। उस बेचारे ने अपना पेट भरने के लिये तुम्हारा इतना सा खून पिया और तुमने अपना खून तो पूरा ले ही लिया और उसका जीवन भी ले लिया।

अरे ! तुम एक मच्छर की बात करते हो; पर लोग तो कहते हैं कि – आजकल मच्छर बहुत हो रहे हैं, सारे घर में डी. डी. टी. छिड़का दो। एक भी मच्छर नहीं रहना चाहिए।

एक मच्छर ने तुम्हें क्या काटा, तुम मच्छरों के कुल के कुल साफ करने को तैयार हो। अंडों को भी नष्ट कर दो, जिससे उनकी नस्ल ही खत्म हो जाये। घर में डी. डी. टी. छिड़कने से क्या अकेले मच्छर ही मरेंगे, कीड़े-मकोड़े-क्रॉकरोच नहीं मरेंगे? जिन कीड़े-मकोड़ों से तुम्हें कोई नुकसान नहीं होता, वे भी मरेंगे।

यदि दुर्भाग्य से तुम नगर-निगम के अध्यक्ष हो गये तो पूरे नगर में डी. डी. टी. छिड़का दोगे। यदि किसी प्रदेश के मुख्यमंत्री हो गये तो पूरे राज्य में, कहीं भी एक मच्छर दिखाई नहीं देना चाहिए। और यदि महा दुर्भाग्य से प्रधानमंत्री हो गये तो सारे देश में एक भी मच्छर जिंदा नहीं रहना चाहिए। अखबारों में निकाल दो, दीवारों पर लिख दो कि जो एक मच्छर या मलेरिया का एक मरीज मुझे लाकर दिखायेगा तो मैं उसे एक हजार रुपये इनाम दूँगा।

एक प्रकार के मच्छरों को मारते ही दूसरे प्रकार के मच्छर पैदा हो जाते हैं। डेंगू जाता है तो चिकनगुनिया आ जाता है। हम कितने बड़े हत्यारे हैं कि एक मच्छर ने हमें काटा तो हम सारी दुनिया के मच्छरों का अस्तित्व मिटा देना चाहते हैं।

अरे भाई ! अपने पैरों में धूल लगती हो तो तुम जूता पहन लो, सारी दुनिया को चमड़े से क्यों मढ़ते हो ? करनी है तो अपनी सुरक्षा करो, मच्छरदानी लगा लो; मच्छरों को क्यों मारते हो ? यह तो आप जानते ही होंगे कि चक्रवर्ती यदि गृहस्थी में मरे, राज्य करते हुये मरे तो नियम से नरक में जाता है। कहावत भी है कि **राजेश्वरी सो नरकेश्वरी।**

जो चीज अनन्त दुःख का कारण है, उसे हमने सुखस्वरूप मान लिया है, सुख का कारण मान लिया है।

हमारे यह पूछने पर यहाँ जैनियों के कितने घर होंगे ? लोग कहते हैं कि सौ घर होंगे। फिर बिना पूछे ही बताते हैं कि उनमें दस घर सुखी हैं। अरे भाई ! हमने यह कब पूछा था कि कितने सुखी हैं और कितने दुःखी ? हम तो मानते हैं कि सारे संसार में कोई भी सुखी नहीं है।

जो संसार विषै सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागें ?
काहे को शिवसाधन करते संयम सो अनुरागें ।।

यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरों के पास क्या कमी थी, चक्रवर्ती के पास क्या कमी थी ? उन्हें संसार में सुख महसूस नहीं हुआ तो मुक्ति की साधना करने के लिए एक क्षण में सबकुछ छोड़कर नग्न दिगंबर होकर चल दिये।

भाई ! बहुत बातें दूसरों के अनुभव से भी सीख लेना चाहिए।

क्या तुम जहर को भी चखकर देखोगे ? दूसरों को जहर खाकर मरते देखकर यह निर्णय नहीं कर सकते कि जहर खाना मृत्यु का कारण है। जरा समझदारी से काम लो और इस असार संसार को दुःखरूप जानकर स्वयं में समा जावो – सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

पहली ढाल का सार मात्र इतना ही है कि संसार में सुख नहीं है। यह बात आपको समझ में आ गयी तो समझ लेना छहढाला की पहली ढाल समझ में आ गई।

अब दूसरी ढाल में यह बतायेंगे कि उक्त दुःखों का मूल कारण क्या है ? ●

दूसरा प्रवचन

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै॥

कल हमने पहली ढाल की चर्चा की थी, उसमें चार गतियों के दु:खों का वर्णन है। उस सम्बन्ध में मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ – सबसे ज्यादा दु:ख कौनसी गति में हैं ?

सबके मनों में इस प्रश्न का सहज भाव से एक ही उत्तर आता है और वह यह है कि नरक गति में सबसे ज्यादा दु:ख हैं।

छहढाला की पहली ढाल में बार-बार आता है कि नरकों में इतनी भूख लगती है, इतनी प्यास लगती है कि तीन लोक का अनाज खा जाये तो भी भूख नहीं मिटे, समुद्रों पानी पी जाये तो भी प्यास नहीं मिटे। सर्दी इतनी कि लोहे का गोला छार-छार हो जाये, गर्मी इतनी कि वह गोला पिघलकर पानी हो जाये। इससे हमें लगता है कि सबसे ज्यादा दु:ख नरकगति में ही है।

लेकिन इसी छहढाला में सबसे अधिक दु:ख तिर्यंच गति में बतायें हैं; क्योंकि दु:खों की बात जो आरम्भ की है, वह तिर्यंच गति से की है, निगोद से आरम्भ की है –

काल अनन्त निगोद मँझार बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।

तिर्यंच गति में सबसे अधिक दु:ख हैं; क्योंकि उसमें निगोद शामिल है। नारकी जीवों के दु:ख बाहर से अधिक दिखते हैं और तिर्यंच गति में तो लोग सिर्फ गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली को ही तिर्यंच समझते हैं। निगोदिया भी तिर्यंच हैं, यह बात उनके ख्याल में ही नहीं है।

आप भगवान की पूजन में **जन्म-जरा-मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा** – यह सबसे पहले बोलते हैं अर्थात् जन्म, जरा और मृत्यु के दु:ख नष्ट हो जाये – ऐसी प्रार्थना करते हैं। सर्दी-गर्मी नष्ट हो जाये – ऐसी प्रार्थना नहीं करते, क्योंकि जन्म-मरण का दु:ख ही सबसे बड़ा दु:ख है और निगोद में –

एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यो मर्यो भर्यो दु:ख भार।

निगोद में रहनेवाले जीव एक स्वांस में अठारह बार जन्मते हैं, अठारह बार मरते हैं और जन्म-मरण के दु:ख के भार को ढोते रहते हैं।

छहढाला की पहली ढाल में जो क्रम दिया है, वह गतियों का नहीं, इन्द्रियों में क्रम है।

ज्यों-ज्यों ज्ञान का विकास होता है, त्यों-त्यों दु:ख कम होता जाता है। यह कैसे हो सकता है कि एक इन्द्रिय को दु:ख कम हो और दो इन्द्रिय को दु:ख ज्यादा हो।

निगोद से निकलकर वह जीव पृथ्वी हुआ, जल हुआ, अग्नि हुआ, वायु हुआ, वनस्पति हुआ, फिर दो इन्द्रिय हुआ, उसके बाद तीन इन्द्रिय में गया, फिर चार इन्द्रिय हुआ। ये सब तिर्यंच गति के दु:ख हैं। उसके पश्चात् पाँच इन्द्रिय में गया; पर वहाँ पर भी असैनी अधिकतर तिर्यंचों में ही होते हैं; क्योंकि मनुष्य, देव और नारकी – ये तो सब सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। इसलिए तिर्यंच गति का दु:ख सबसे बड़ा दु:ख है; क्योंकि उसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव सामिल हैं।

जिसमें निगोद भी सामिल है; उस तिर्यंचगति के दु:ख बताने के बाद नरकगति के दु:ख बताये। उसके बाद मनुष्यगति में बचपन, जवानी और बुढ़ापे के दु:ख बताने के उपरान्त देवगति में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियों के दु:ख बताकर विमानवासी देवों के दु:ख बताते-

बताते कह दिया कि वहाँ से च्युत होकर फिर जिसमें निगोद सामिल है – ऐसी एकेन्द्रिय पर्याय में चला गया। इसप्रकार इस जीव ने पंच परावर्तनों को पूरा किया।

तहँते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।

इसप्रकार एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में लौकिक अनुकूलता और क्षयोपशमज्ञान का क्रमिक विकास है।

आप जानते हैं कि जिस देवगति को हम सुख का खजाना मान रहे हैं; उस गति का देव मरकर एकेन्द्रिय भी हो सकता है; लेकिन नारकी मरकर एकेन्द्रिय कभी नहीं होता। नारकी जीव नरक से निकलेगा तो नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होगा। वह चार इन्द्रिय भी नहीं होगा अर्थात् कीड़ा-मकौड़ा भी नहीं होगा।

सुनो ! देवों के खाने-पीने का, अभक्ष्यादि भक्षण का, परस्त्री सेवन का – कोई भी पाप नहीं है; फिर भी वह मरकर एकेन्द्रिय हो सकता है।

नरकगति में तो मारकाट मची रहती है। अन्य जीव इसे मारते-काटते हैं तो यह जीव भी दूसरों को मारता-काटता है। फिर भी एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक की पर्यायों में वह नहीं जाता। ऐसा क्यों है ? – इस बात पर जरा गंभीरता से विचार करो।

यदि आपको बिना रिजर्वेशन द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में जाना पड़े और सहज ही सोने की सीट मिल जाये तो आराम ही आराम है। सब कहेंगे सोने की सीट मिल गई, इससे बढ़िया बात क्या हो सकती है ? उस सीट के लिए हम कोशिश भी करते हैं। सौ-दौ सौ रुपये भी देने को तैयार हो जाते हैं। पर ध्यान रहे कि सोने की सीट मिलेगी तो सामान पार हो सकता है और खड़े-खड़े जाओगे तो सामान सुरक्षित रहेगा।

सोनेवाले का सामान खोता है और जागनेवाला का नहीं खोता।

नरक में सोने का मौका ही नहीं मिलता है; इतने दण्डे पड़ते हैं कि नींद आने का सवाल ही नहीं है। इसलिए वहाँ ज्ञान की निधि नहीं लुटती है और देवगति में भोगों में इतने मस्त हो जाते हैं, ऐसे सो जाते हैं कि उनकी ज्ञाननिधि लुट जाती है और वे एकेन्द्रिय अवस्था में चले जाते हैं। नारकी तो सीधा निगोद में जाता नहीं। आप जिस देवगति को इतना बढ़िया मान रहे हो, वह देवगति कैसी है ? आप इसकी कल्पना कीजिए।

ऐसे परिवर्तन हमने अबतक अनन्त बार किये हैं।

अन्तिम ग्रीवक लौं की हद, पायो अनन्त विरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधो दुर्लभ निज में मुनि साधो।।

इसप्रकार यह जीव भटकता हुआ अन्तिम गैवेयिक तक अनन्त बार गया; परन्तु दुर्लभ सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, इसलिये अनन्त दुःख उठाता रहा। उक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुनिराज स्वयं स्वयं में साधते हैं।

नवमें ग्रैवेयक तक गया; क्योंकि नवमें ग्रैवेयक तक गये बिना पंचपरावर्तन पूरे नहीं होते। इस जीव ने अनेक पंचपरावर्तन पूरे किये हैं। निगोद से निकला और परिवर्तन करके निगोद में पहुँच गया।

जगत की दृष्टि में भोगों की प्रधानता है; इसलिए वे स्वर्ग में सुख मान रहे हैं। नरक गति में भोग नहीं हैं, इसलिए दुःख मान रहे हैं और सुखी होने के लिए उन भोगों को जोड़ने में ही लगे हैं। आचार्यदेव कहते हैं – संसार में तो दुःख ही दुःख हैं, सुख है ही नहीं, तो मिलेगा कहाँ से?

आप कहेंगे हम तो आये थे मोक्ष का मार्ग सुनने; लेकिन तुमने तो नरक के, तिर्यंच के दुःख बताना शुरू कर दिये। हम तो छहढाला की क्लास में इसलिए आये थे कि हम आत्मा की बात सुनेंगे, मोक्ष का मार्ग मिलेगा और तुमने तो नरक की और निगोद की बात शुरू कर दी।

अरे भाई ! जबतक यह जीव जिस हालत में है और यह मानता है कि मैं इसी हालत में सुखी हूँ; तबतक वह हालत बदलने की कोशिश नहीं करेगा। अत: पहले तो उसे यह बताना कि तू इस हालत में सुखी नहीं है। चारों गतियों में दु:ख ही दु:ख हैं – ऐसा ज्ञान हो जावे और मुझे इनसे बाहर निकलना है – ऐसा संकल्प अन्दर में जाग जाये; तब हम निकलने का जो रास्ता बतायेंगे, उसे यह ध्यान से सुनेगा, अन्यथा यह ध्यान से सुनेगा भी नहीं।

बहुत पुरानी बात है – मैं सन् १९६२ के पूर्यषण में मुंबई में भूलेश्वर के मंदिर में प्रवचनार्थ गया था, वहाँ विविध मंदिरों में जितने भी पण्डित प्रवचनार्थ आते थे, वे सभी पूर्णमासी के दिन साहूजी के आमन्त्रण पर उनके यहाँ भोजन करने जाते थे। वहाँ पर भूलेश्वर मंदिर का जुलूस निकलता था। उसकी वजह से मैं जाने में लेट हो गया। सभी विद्वान पहले पहुँच गये। सब लोग खाने की तैयारी में थे, हँसी-मजाक चल रहा था। इतने में मैं वहाँ पहुँचा तो सब एकदम ठहाका मारकर हँस पड़े। क्या हुआ है – यह मेरी समझ में नहीं आया।

तब साहूजी ने मेरे से कहा – पण्डितजी हमने सुना है कि आप मोक्ष ही मोक्ष की बात करते हो, मोक्षमार्ग की बात ही दुनिया को बताते हो; लेकिन हम जैसे संसारी जीवों को संसार में सुख कैसे प्राप्त हो – यह भी तो बताओ। जैसे ही उन्होंने यह कहा तो सब विद्वान ठहाका मारकर हँस पड़े; क्योंकि वहाँ तो पहले से ही ऐसी ही बातें चल रहीं थी कि एक पण्डित आया है, वह आत्मा-फात्मा की बातें करता है, वह मोक्ष की बातें ही करता है।

मैंने कहा – सेठजी ! हम क्या करें ? हमारा दुर्भाग्य है कि हमने जन्म से ही यही पढ़ा है कि –

जो संसार विषै सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागें ?
काहे को शिवसाधन करते संयम सो अनुरागें॥

यदि इस संसार में सुख होता तो तीर्थंकरों को क्या कमी थी; वे सब वैभव का त्याग क्यों करते और मुक्ति के मार्ग की साधना में क्यों लगते तथा संयम से प्रीति क्यों जोड़ते।

हम क्या करें ? हमने तो छहढाला पढ़ी है, उसमें चार गति में दुःख ही दुःख बताये हैं और आप कहते हो संसार में सुख बताओ। जो पण्डित आप लोगों को संसार में सुख बताते हैं, वे आपको धोखा देते हैं। संसार में सुख है – ऐसा जैनशास्त्रों में कही नहीं लिखा है और चारों गतियों में दुःख ही दुःख है – सभी जगह यही लिखा है।

मैंने उनसे कहा कि मैंने एक नई शोध की है कि शान्तिनाथ भगवान की आँख में मोतियाबिन्द था। वे चक्रवर्ती थे, तीर्थंकर थे, कामदेव थे। तीन-तीन पदवियों के धारक थे। संसार में सबसे ज्यादा पुण्यशाली थे। जितना अधिक सांसारिक वैभव उनके पास था, उतना किसी और के पास तो सम्भव ही नहीं है। आदिनाथ के पास भी नहीं है; क्योंकि वे चक्रवर्ती नहीं थे, कामदेव नहीं थे और शांतिनाथ तीर्थंकर के साथ-साथ चक्रवर्ती व कामदेव भी थे। फिर भी शांतिनाथ ये सब छोड़कर चले गये, उन्हें संसार में सुख नहीं दिखा और तुम्हारे इन पण्डितों को दिखता है तो जरूर शांतिनाथ के आँख में कोई न कोई तकलीफ होगी और वह मोतियाबिन्द के अलावा क्या हो सकती है ?

मैं आपसे हाथ जोड़कर कहता हूँ कि बाद में किसी से यह मत कहना कि एक पण्डित आया था और वह कहता था कि भगवान शान्तिनाथ के आँख में मोतियाबिन्द था। यह कहकर मैं जो कहना चाहता हूँ, वह आपकी समझ में आ ही गया होगा।

अब कहते हैं कि इस संसार में जो दुःख है, उसका कारण क्या है ?

ऐसे मिथ्या दृग-ज्ञान-चरणवश भ्रमत भरत दुःख जन्म मरण।

तात्पर्य यह है कि यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश ही संसार में परिभ्रमण करता है और जन्म-मरण के अनन्त दुःख भोगता है।

इसमें दो बातें आ गईं कि दुःख तो असलियत में जन्म-मरण के ही हैं और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वशीभूत होकर जीव उन्हें भोगता है।

यह जानते हुये कि भगवान सब कुछ जानते हैं, हम उन्हें अपनी व्यथा-कथा सुनाते हैं। कहते हैं कि –

चारों गति के मांहि मैं दुःख पाये सो सुनो।

हे प्रभु ! चारों गतियों में मैंने जो-जो दुःख पाये हैं; उन्हें आप ध्यान से सुनिये। साथ में यह भी कहते हैं कि –

तुमको बिन जाने जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।

भगवान ! आप तो केवलज्ञानी हो, आपको जाने बिना मैंने जो दुःख उठाये हैं, आप वे सब जानते हो।

यदि यह बात तुम जानते हो तो अगली ही पंक्ति में अपनी व्यथा-कथा क्यों सुनाने लगते हो। कहते हो –

पशु नारक नर सुर गति मंझार, भव धर-धर मर्‍यो अनंत बार।

तिर्यंच, नरक, मनुष्य और देवगति के बार-बार भव धारण करके अनंत बार जन्मता-मरता रहा हूँ।

यहाँ भी चारों गतियों में दुःखों के रूप में जन्म-मरण की ही बात कही है। भव धरना माने जन्मना और मर्‍यो माने मरना।

हमने सेठजी से कहा – हम कैसे बताये कि संसार में सुख है ? हम तो ऐसे भी सुखी नहीं हैं और वैसे भी सुखी नहीं हैं।

उन्होंने कहा – ऐसे-वैसे क्या होता है ?

मैंने कहा – जगत में जो पैसेवाले होते हैं, लोग उन्हें सुखी कहते हैं। जैनसमाज में आज सबसे ज्यादा सुखी आप ही दिखते हो। फिर भी हमें तो आप भी दुःखी ही दिखते हो; क्योंकि आप हमसे सुख की ही बात पूछ रहो हो। हमी से कह रहे हो कि संसार में सुख बताओ। अब बोलो आप दुःखी हो या नहीं ?

जो सुखी हैं, वे ही संसार में सुख का रास्ता पूछते फिर रहे हैं; इससे सिद्ध होता है कि संसार में सुख नहीं है। भगवान कहते हैं कि तेरे जो दुःख हैं; वे रोटी, कपड़ा और मकान की कमी के कारण नहीं हैं, सर्दी-गर्मी के कारण नहीं हैं; वे तो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण हैं। इसलिए उन दुःखों से छूटने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धारण कर।

मिथ्यात्व दो प्रकार का होता है – एक गृहीत और एक अगृहीत। मिथ्याज्ञान भी दो प्रकार का होता है – एक गृहीत और एक अगृहीत। इसीप्रकार चारित्र भी दो प्रकार होता है – एक गृहीत और एक अगृहीत।

गृहीत अर्थात् हमने जो नया ग्रहण किया है। नरक में गृहीत मिथ्यात्व नहीं है, स्वर्ग में भी गृहीत मिथ्यात्व नहीं है और तिर्यंच गति में भी गृहीत मिथ्यात्व नहीं है। ये तो मनुष्यगति की नई कमाई है; क्योंकि दूसरे के उपदेश से हम असत्य बात स्वीकार कर लें, उसका नाम गृहीत मिथ्यात्व है। असैनी पंचेंद्रिय तक तो कोई दूसरे का उपदेश सुन ही नहीं सकता, समझ ही नहीं सकता; इसलिए असंज्ञी पंचेंद्रिय तक के जीवों को गृहीत मिथ्यात्व नहीं हो सकता।

निगोद में भी गृहीत मिथ्यादर्शन नहीं है। आठ वर्ष की उम्र तक यदि कोई सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है तो गृहीत मिथ्यादृष्टि भी नहीं हो सकता। हमने होशो-हवास में तत्त्व के सम्बन्ध में जो नई असत्य बात सीखी है, उसका नाम है गृहीत मिथ्यात्व।

अगृहीत अर्थात् जिसे हमने कभी ग्रहण नहीं किया है। अनादिकाल से, जबसे हम निगोद में हैं, तब से ही यह हमारे साथ है।

एक आदमी को कैन्सर है और जुखाम भी हो गया, मच्छरों ने काटा तो बुखार हो गया, मलेरिया हो गया। उसको बड़ी बीमारी कौन-सी है, उसे किसकी चिन्ता करना चाहिये – जुखाम की या कैंसर की ?

समझदार डॉक्टर कहता है कि इस सर्दी-जुखाम में क्या दम है, इसके लिए मैं कोई दवाई भी नहीं दूँगा, दो-तीन दिन में अपने आप ठीक हो जावोगे, यह मेरी चिंता का विषय नहीं है। मेरी चिन्ता का विषय तो तेरा कैन्सर है।

आचार्य कहते हैं कि दूसरों से खोटी बात ग्रहण कर ली है तो कोई चिन्ता की बात नहीं; क्योंकि तू समझदार है न ! कोई सच्चा गुरु समझायेगा तो तू सच्ची बात भी ग्रहण कर लेगा। यह कोई बड़ी समस्या नहीं है; बड़ी समस्या तो अनादि से देह में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्त्वृत्वबुद्धि है। मैं परपदार्थ का कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, परपदार्थ का स्वामी हूँ, परपदार्थ मेरा स्वामी है – इसका नाम है अगृहीत मिथ्यात्व और यह सबसे बड़ी समस्या है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि तू है तो दुःखी और अपने को मान रहा है सुखी – यह बड़ी बीमारी है।

पुण्य-पाप यह बात व्याधि सम क्षण में हँसत क्षणक रोवत है।

पुण्य-पाप तो वायु की बीमारी जैसे हैं; इनके वश जीव क्षण में हँसने लगता है और क्षण में रोने लगता है।

वात की व्याधि होती है, वायु का रोग होता है तो आदमी आधे पागल जैसा हो जाता है; समझो पागल ही हो जाता है।

आयुर्वेद के अनुसार पित्त की बीमारियाँ बीस तरह की होती हैं। फेफड़ों में खाँसी आदि कफ की बीमारियाँ चालीस तरह की होती हैं।

अस्सी तरह की वायु की बीमारियाँ हैं, जिसमें हड्डी की बीमारियाँ, नसों की बीमारियाँ, हार्ट-अटैक और पागलपन आदि सभी आ जाते हैं। बात की बीमारी से पीड़ित अर्द्धविक्षिप्त आदमी एक क्षण में रोने लगता है और रोते-रोते एकदम हँसने लगता है और हँसते-हँसते, बात करते-करते एकदम रोने लगता है।

जिसप्रकार वातव्याधि पीड़ित व्यक्ति क्षण में हँसने लगता है और क्षण में रोने लगता है; उसीप्रकार ये पुण्य-पाप भी वात की व्याधि के समान हैं; क्योंकि पुण्य के उदय में अपने को सुखी अनुभव करना और पाप के उदय में दुःखी अनुभव करना – यह आध्यात्मिक वात की बीमारी है, आध्यात्मिक पागलपन है।

पागल का हँसना और रोना – दोनों ही बीमारी के लक्षण हैं, स्वास्थ्य के नहीं। यह पुण्य के उदय में हँसता है और पाप के उदय में रोता है। इसे तो मिथ्यात्व नामक वायु की बीमारी हो गई है।

पुण्य के उदय से अनुकूल संयोग मिले तो उसमें खुश होने की जरूरत नहीं; पाप के उदय से प्रतिकूल संयोग मिले तो उसमें दुःखी होने की जरूरत नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह अनुकूल संयोगों में खुश हो जाता है और प्रतिकूल संयोगों में घबराने लगता है – यह इसकी बीमारी है। यह मिथ्यात्व नाम की वायु की बीमारी है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – इन सात तत्त्वों के विषय में जो अनादिकालीन विपरीत मान्यता है, वह अगृहीत मिथ्यात्व की बीमारी है।

हम जीव है, ज्ञान हमारा गुण है, जानना हमारा कार्य है। यह पुद्गल अजीव है, टेबल अजीव है, घड़ी अजीव है – इसमें तो कोई शंका नहीं होती और सिद्ध भगवान जीव हैं, जानने-देखनेवाले जीव हैं

– इसमें भी किसी को शंका नहीं होती है; लेकिन अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड शरीर और उसमें एक आत्मा – इन दोनों की मिली हुई अवस्था का नाम हाथी है। अब बोलो – यह हाथी जीव है या अजीव ?

अरे भाई ! यह हाथी एक लिमिटेड कम्पनी है, जिसके अनन्त शेयर हैं पुद्गल के और एक शेयर है आत्मा का। अब बोलो हाथी जीव है या अजीव ?

इस बात को निम्नांकित उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकता है –

'आपकी आजीविका क्या है ?' किसी के यह पूछने पर हमने कहा कि ये जो मारुती का कारखाना है, वह अपना ही तो है।

तब वह बोला – गजब हो गया ! हमें तो मालूम ही नहीं था कि यह इतना बड़ा कारखाना आपका है।

अच्छा, तुम्हें पता नहीं था? मैं तुमसे ही पूछता हूँ कि इसका मालिक कौन है ? जो शेयरधारक हैं, वे ही उसके मालिक हैं न ? मेरे पास भी उसका एक शेयर है। जिसके करोड़ों शेयर हैं, मैं उस मारुती लिमिटेड का एक शेयर लेकर अपने आपको मारुती लिमिटेड का मालिक समझूँ तो यह पागलपन नहीं है क्या ?

जिसके तुम मालिक बने फिरते हो, यदि उस मारुती कारखाने के गेट पर तुम जाओगे तो चपरासी तुम्हें अंदर घुसने नहीं देगा। उसके व्यवस्थापकों से मिलने के लिए तुम्हें छह महिने पहिले से ही अर्जी लगानी पड़ेगी। जब तुम वहाँ जाकर अपना शेयर दिखाओगे तो वह चपराशी कहेगा शेयर मार्केट में जाओ। वहाँ दस-पाँच रुपये में बिक जाये तो बेच देना। ये दिखाकर तुम इसमें नहीं घुस सकते हो; क्योंकि जबतक उन शेयरों का बहुमत तुम्हारे पास नहीं हो, तबतक तुम उसके मालिक नहीं हो सकते। इतना तो आप जानते ही हैं न ?

हाथी शब्द से वाच्य कम्पनी में बहुमत किसका है ? जीव द्रव्य तो एक और अजीव अनन्त पुद्गल परमाणु। बोलो – इसमें बहुमत किसका है – अजीव का है या जीव का ?

हाथी का शरीर अजीव है और हाथी के अन्दर जो आत्मा है, वह जीव है। हाथी, घोड़ा, मनुष्य, मक्खी – इनमें ज्ञान-दर्शनस्वभावी, जानने देखनेवाला तत्त्व जीव है और रूप-रस-स्पर्श-गंध आदि रूप जो पुद्गल स्कन्ध है, वह अजीव है।

प्रश्न : बात तो सही है; क्योंकि हाथी का शरीर अजीव है और उसका आत्मा जीव है। लेकिन शास्त्र में तो हाथी को जीव लिखा है ?

उत्तर : शास्त्र में तो इसलिए लिखा है कि तुम उनके साथ जीव जैसा व्यवहार करो। हाथी-घोड़े के साथ अजीव, पत्थर जैसा व्यवहार मत करो। दया पालन करने के लिए शास्त्र में उसे जीव कहा है।

वह भी भगवान आत्मा है – ऐसा हम बोलते हैं तो अष्टद्रव्य से पूजन करने के लिए नहीं बोलते कि तुम हे हाथीदेवा ! कहकर उसकी पूजा करने लगो। ध्यान रहे कि दया करने के लिए उसे जीव कहा है। आराधना करने के लिए उसे जीव नहीं कहा।

क्यों भाई ! क्या उम्र होगी तुम्हारी ? २२ साल की। और वजन कितना है ? ७४ किलो – यह सब किसका है ? यह वजन तुम्हारा है ? क्या आत्मा में वजन होता है ? अभी-अभी अपन कह रहे थे आत्मा जुदा है और शरीर जुदा है। जानना-देखना स्वभाव आत्मा का है और यह वजन आदि पुद्गल का है।

यह बात उस बेचारे ने तो कह दी है; पर हमारी-तुम्हारी – सबकी यही हालत है। मैं डॉक्टर के यहाँ जाऊँगा और डॉक्टर मुझसे पूछेगा – आपका वजन कितना है तो मैं भी ७४ किलो ही बताऊंगा। लेकिन मैं

ऐसा बताने से मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाऊँगा। भाषा तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं की भी ऐसी ही होती है। जिस अपेक्षा से सामने से प्रश्न किया गया है; उसी अपेक्षा से उत्तर आता है, लेकिन उसी वक्त अन्दर ज्ञान में यह बना रहता है कि यह मैं नहीं हूँ। मैं तो इससे पृथक् चेतनतत्त्व हूँ।

मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ कि जो भाषा के स्तर पर तो बड़े अध्यात्मी बनते हैं; पर.....।

एक बार हम एक ऐसे ही महापुरुष के पास उनकी तबियत पूँछने गये तो क्या देखते हैं कि जब हमने पूँछा कि कैसी तबियत है आपकी ?

तपाक से बोले – क्या हुआ मुझे, मैं तो एकदम ठीक हूँ; बुखार तो इस पड़ौसी देह को आया है।

अरे भाई ! जब हम व्यवहारनय से पूछ रहे हैं तो तुम भी उसी व्यवहारनय से जवाब दो न ! हम तो देह की ही तबियत पूछने आये है? लेकिन उनका वह अध्यात्म सिर्फ एक मिनिट भी नहीं टिकता है, अगले ही क्षण से यह रामायण आरम्भ हो जाती है कि कमर में दर्द होता है, पैरों में दर्द होता है, डॉक्टर ने यह बताया है, इतनी गोलियाँ दी.....। उनके जेब की तलाशी लो तो जेब में दस-पाँच गोलियाँ मिल जायेगी। अरे भाई ! तुम्हें यदि कुछ नहीं हुआ है तो ये गोलियाँ किसलिए हैं ?

ऐसे नकली अध्यात्मिक बनने की बात मैं आपसे नहीं कहता हूँ। अरे भाई ! बाहर में भाषा तो व्यवहार की ही बोली जायेगी, लेकिन अंदर में स्वीकृत होना चाहिये कि मैं पर का स्वामी नहीं हूँ, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं हूँ, भोक्ता भी नहीं हूँ। इसीप्रकार पर भी मेरा स्वामी नहीं है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है और भोक्ता भी नहीं है।

मुनीम कहता है – हम इस भाव में नहीं दे सकते। ऐसे तो हमारा दिवाला निकल जायेगा। यदि कल तक पैसे नहीं आये तो मेरे से बुरा

कोई नहीं होगा; लेकिन अंदर से जानता है कि दिवाला मेरा नहीं, सेठ का निकलेगा।

यदि वह यह कहने लग जाय मेरे बाप का क्या जाता है, दिवाला निकलेगा तो सेठ का निकलेगा; ले जा, जितना लेना है, ले जा; जिस भाव ले जाना है, ले जा। तो क्या होगा ?

व्यवहार में तो व्यवहार की ही भाषा बोलनी पड़ेगी, मैं भाषा बदलने के लिए नहीं कहता हूँ, मैं तो अंदर के भावपरिवर्तन की बात करता हूँ। ये जो देहादि परपदार्थों में एकत्व-ममत्वबुद्धि, कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि है; वह अगृहीत मिथ्यात्व है और यह अगृहीत मिथ्यात्व इस जीव के अनादि से है।

इसप्रकार जीव-अजीव तत्त्वसंबंधी भूल की चर्चा करके अब आस्रव-बंध तत्त्वसंबंधी भूल की बात करते हैं –

आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हैं निरवेरे।

आस्रव घना दुःख देनेवाले हैं और बुद्धिमान जीव उनसे निवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के शुभाशुभ आस्रवभाव घना दुःख देनेवाले हैं। कोई भी आस्रव सुख देनेवाला नहीं है।

रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।
शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करै निजपद विसार।

यद्यपि सभी प्रकार के रागादीभाव प्रगट दुःख देनेवाले हैं; तथापि अज्ञानी जीव उन्हीं का सेवन करता हुआ स्वयं को सुखी मानता है।

यह अज्ञानी जीव अपने आत्मा को भूलकर शुभ बंध के फल में रति और अशुभ बंध के फल में अरति करता है।

आस्रव और बंध दो-दो प्रकार के होते हैं – पुण्यास्रव और पापास्रव, पुण्यबंध और पापबंध। दोनों ही दुःख के कारण हैं। लेकिन हमें पुण्यास्रव और पुण्यबंध सुखकर लगते हैं और पापास्रव और पापबंध दुखकर

लगते हैं। पुण्य के फल में जो अनुकूलता मिलती है, स्वर्गादिक मिलते हैं; वे सब अच्छे लगते हैं।

जब यह सुनिश्चित हो गया कि स्वर्ग के संयोग, पाँच इन्द्रियों के विषय-भोग – ये सभी दुःखरूप ही हैं, दुःख ही हैं; तब जिस पुण्य के उदय में ये भोग प्राप्त होते हैं, स्वर्ग प्राप्त होता है; वह पुण्य भी दुःख का कारण हुआ और वह पुण्य जिन शुभभावों से बँधता है; वे शुभभाव भी दुःख के कारण हुये। जब शुभभाव भी दुःख का कारण है और अशुभभाव भी दुःख का कारण है तो शुभ और अशुभ – ऐसे दो भेद करने से क्या लाभ है ? अतः यही ठीक है कि शुभाशुभ भाव अशुद्धभाव हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव और अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत आनेवाले शुभपरिणामाधिकार में यह बात बहुत विस्तार से स्पष्ट की है।

ऊपर से तो हम बोल देते हैं कि **आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे**; लेकिन आस्रव-बंध अनन्त दुःख देनेवाले हैं– यह बात कितने लोग जानते हैं ? अन्तर की गहराई से यह बात कितने लोगों को स्वीकार है ? भाषा के स्तर पर तो बात आ जाती है; किन्तु बुद्धि की गहराई में जाकर सबकुछ गोलमाल लगता है। यह सब अगृहीत मिथ्यादृष्टि की आस्रव-बंधतत्त्वसंबंधी भूल है।

अब संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्वसंबंधी भूल की बात करते हैं –

बेचारे सन्तों को कितनी तकलीफ है, हम तो घरों में ए. सी. में बैठे हैं, चार-चार बार खा रहे हैं, पी रहे हैं। टी. वी. देख रहे हैं और वे तो बेचारे आहार भी दिन में एक बार निरन्तराय मिला तो मिला, नहीं तो निराहार। वन में डांस हैं, मच्छर हैं, कितनी तकलीफें हैं। इसप्रकार हम उन्हें बहुत दुःखी मानते हैं और अपने को बहुत सुखी मानते हैं।

अब हम शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो पहले गुणस्थानवाले सुखी हैं या चौथे गुणस्थानवाले, चौथे गुणस्थानवाले ज्यादा सुखी हैं या पाँचवें गुणस्थानवाले, पाँचवें गुणस्थानवाले ज्यादा सुखी हैं या छठवें-सातवें गुणस्थानवाले ?

अब यदि आप पहले गुणस्थान में हो तो फिर आपके दु:खों का कहना ही क्या है। मान लो सम्यग्दृष्टि भी हो तो भी तुम से वे मुनिराज असंख्यगुणे सुखी हैं और तुम्हें वे दु:खी दिख रहे हैं। तुम उनसे अनन्त गुणे दु:खी हो और तुम खुद को सुखी मान रहे हो। क्या यह संवरतत्त्वसंबंधी भूल नहीं है, निर्जरातत्त्वसंबंधी भूल नहीं है ?

आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।
रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।

जो वैराग्य और ज्ञान आत्मा के हित के हेतु हैं, उन्हें कष्ट देनेवाला मानता है। इच्छाओं का निरोध तो नहीं करता, अपितु उनकी पूर्ति में सुख मानता है और निराकुलतारूप जो मोक्षसुख है; उसे जानता नहीं है।

बाप बेटे को समझाता है – बेटा ! अभी तकलीफ भोग लोगे तो फिर सुख पाओगे। अभी सुख भोगोगे तो बाद में दु:खी हो जाओगे। तकलीफ उठा लोगे अर्थात् रातभर ध्यान से पढ़ोगे-लिखोगे और बड़े ऑफिसर बन जाओगे तो जिंदगी भर सुख पाओगे। यह पढ़ना-लिखना क्या दु:ख पाना है और आफिसर बनकर पाँचों इन्द्रियों की भोगसामग्री पाना क्या सुख पाना है ?

बीज डालोगे दु:ख का और होगा सुख। इसीप्रकार बीज डालोगे सुख का और होगा दु:ख। क्या कभी ऐसा भी हो सकता है ?

अरे भाई ! जो अभी पढ़ने में आनन्द महसूस करेगा, वही अच्छे अंक पायेगा और उसे ही भविष्य में अनुकूलता प्राप्त होगी। जो व्यक्ति

पढ़ाई में क्लेश अनुभव करता है; उसे न तो अच्छे अंक मिलते हैं और न भविष्य में अनुकूलता ही प्राप्त होती है।

जो मुनिराज वर्तमान प्रतिकूलताओं में भी अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करेंगे; वे ही भविष्य में अनंत अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करेंगे।

जो व्यक्ति मुनिदशा को क्लेशरूप मानते हैं; वे संवर-निर्जरातत्त्व को सही नहीं समझते। वे लोग आत्मा के आश्रय से इच्छाओं को तो रोकते नहीं हैं और निराकुलता लक्षण मोक्ष को भी नहीं पहिचानते हैं।

यह अज्ञानी जीव संसार के सुख से अनन्त गुणा सुख मोक्ष में मानता है; पर यह नहीं जानता कि संसार में सुख है ही नहीं तो फिर संसार के सुख से अनन्त गुणा का क्या अर्थ है ? शून्य में कितने का भी गुणा करो, अन्त में परिणाम तो शून्य ही आता है न।

स्वर्ग में कम से कम ३२ देवांगनाएँ होती हैं; इसलिए वे सुखी हैं और चक्रवर्ती को ९६००० पत्नियाँ होती हैं, इसलिए वे सुखी हैं।

यदि मोक्ष में भी इसी से अनन्त गुणा सुख मानना है तो सिद्ध भगवान के कितनी पत्नियाँ माननी होगी ? अरे भाई ! मोक्ष में इन्द्रियसुख संबंधी सुख नहीं है। अतः इस गुणनफल के व्यर्थ के व्यायाम से क्या लाभ है ?

इसप्रकार सातों तत्त्वों सम्बन्धी अज्ञान-अश्रद्धा अग्रहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्यादर्शन है।

यह मिथ्यात्व अनादि का है। यह किसी कुगुरु ने हमें नहीं सिखाया है कि लड्डू खाने में मजा आता है। अनादि काल से हमारी पाँच इन्द्रियों के भोगों में सुखबुद्धि है।

वस्तुतः बात यह है कि कोई व्यक्ति कुदेव, कोई शास्त्र कुशास्त्र और कोई व्यक्ति कुगुरु नहीं है; अपितु अदेव में देवबुद्धि, अशास्त्र में शास्त्रबुद्धि और अगुरु में गुरुबुद्धि ही कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु हैं।

जो वीतरागी-सर्वज्ञ नहीं हैं, वे सच्चे देव नहीं हैं; इसलिए अदेव हैं; जो सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार नहीं हैं और वीतरागता के पोषक नहीं हैं, वे अशास्त्र हैं और जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न नहीं हैं, वे अगुरु हैं। इन अदेवों, अशास्त्रों और अगुरुओं को देव, शास्त्र, गुरु मानना ही क्रमशः कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुसंबंधी मान्यता है।

अदेव को देव मानना ही कुदेवसंबंधी मिथ्या मान्यता है। इसीप्रकार अगुरु को गुरु मानना कुगुरुसंबंधी मिथ्या मान्यता है।

एक अध्यापक अंग्रेजी पढ़ाता है, उसे भी गुरुजी कहते हैं और महाराष्ट्र में तो हर अध्यापक को गुरुजी कहते हैं। गोपालदासजी बरैया को भी गुरुजी कहा जाता था। उन्हें तुम देव-शास्त्र-गुरु वाला गुरु मान लो तो तुम्हारी मान्यता कुगुरु हो गई।

आज से पचास वर्ष पूर्व सन् १९५६ में लिखी गई मेरी देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में मैंने सच्चे गुरु का स्वरूप इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

दिन-रात आत्मा का चिंतन, मृदु संभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी प्रगट हो रहा अन्तर्मन॥
निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी स्वातम में सदा विचरते जो।
ज्ञानी ध्यानी समरससानी द्वादश विधि तप नित करते जो॥
चलते-फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम चले आपके कदमों पर नित यही भावना भाते हैं॥

जैन गुरु तो दिन-रात आत्मा के चिन्तन में मग्न रहते हैं और कोमल-मधुर वाणी में उक्त आत्मा का ही प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्य यह है कि मुनिराज निरन्तर चिन्तन भी आत्मा का ही करते हैं और जब बोलते हैं तो प्रतिपादन भी भगवान आत्मा का ही करते हैं। उनके सम्पूर्णतः

निर्वस्त्र नग्न दिगम्बर शरीर से भी उनके अन्तर्मन की पवित्रता प्रगट होती है।

चौबीस परिग्रहों से रहित वे दिगम्बर संत सम्यग्ज्ञानी तो हैं ही; साथ में निरन्तर अपने आत्मा में विचरण करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे आत्मध्यान में ही मग्न रहते हैं। ऐसे ज्ञानी, ध्यानी संत समतारूपी रस से सराबोर रहते हैं और बारह प्रकार के तपों को तपते रहते हैं।

वे गुरुराज एक प्रकार से चलते-फिरते सिद्ध ही हैं; हम उनके चरणों में अपना मस्तक झुकाते हैं और निरन्तर यही भावना भाते हैं कि हम सदा आपके चरणचिह्नों पर चलते रहें, आपका ही अनुकरण करते रहें।

इसप्रकार वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनकी वाणी के प्रतिपादक शास्त्र और उस वाणी का अनुसरण करनेवाले निर्ग्रंथ गुरु ही देव-शास्त्र-गुरु हैं।

रागी-द्वेषी अल्पज्ञ देव, उनकी वाणी और उनके बताये रास्ते पर चलनेवाले गुरु ही कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु हैं।

कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के निमित्त से जो हमारी सात तत्त्वों के विषय में भूल होती है, उसको बोलते हैं गृहीत मिथ्यात्व और जो अनादि कालीन भूल है; वह है अगृहीत मिथ्यात्व।

इसीप्रकार राग-द्वेष पोषक शास्त्रों को सही मानकर उनका अभ्यास करना गृहीत मिथ्याज्ञान है और सात तत्त्वसंबंधी मिथ्या श्रद्धा से रहित ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान है।

अब अगृहीत मिथ्याचारित्र की बात करते हैं –

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्या चारित्र।

उक्त अगृहीत मिथ्यात्व सहित पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति अगृहीत मिथ्याचारित्र है।

लोग कहते हैं कि पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति का नाम अगृहीत मिथ्याचारित्र है।

इस पंक्ति में एक शब्द आया है – 'इन जुत' इसका अर्थ क्या है ? इसपर कोई ध्यान नहीं देता है। इसका अर्थ है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के साथ में होनेवाली पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति अगृहीत मिथ्याचारित्र कहलाती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हो और विषयों की प्रवृत्ति हो तो वह अगृहीत मिथ्याचारित्र नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की जो पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति है, उसका नाम अगृहीत मिथ्याचारित्र नहीं, असंयम है।

यदि सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं की पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र मानेंगे तो फिर भरतचक्रवर्ती, सौधर्मादि इन्द्र और गृहस्थ अवस्था में स्थित राजा ऋषभदेव आदि को भी अगृहीत मिथ्याचारित्र-वाला मानना होगा, जो कदापि संभव नहीं है।

अब गृहीत मिथ्याचारित्र की बात करते हैं –

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह।

अपनी प्रसिद्धि के लिए, लौकिक लाभ, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि की चाह से व्रतादिक का पालन करना, धर्म के नाम पर शरीर को कष्ट देनेवाली अनेक क्रियायें करना गृहीत मिथ्याचारित्र है।

इसतरह से गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र और अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण छहढाला की दूसरी ढाल में किया है और यह बताया कि ये ही इस जीव के दुःखों का कारण हैं।

अब तीसरी ढाल में इन दुःखों से छूटने का उपाय बतायेंगे। ●

जगत के पदार्थ तो जगत में ही रहते हैं और रहेंगे, उन्हें क्या छोड़ें और कैसे छोड़ें ? उन्हें अपना मानना और उनसे ममत्व करना ही तो छोड़ना है। – धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १४७

तीसरा प्रवचन

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै॥

अभी तक हुये दो प्रवचनों में छहढाला की दो ढालों पर चर्चा हुई; जिनमें संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है – यह पहली ढाल में और उस दुःख का कारण गृहीत और अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं – यह दूसरी ढाल में बताया गया है।

अब तीसरी ढाल में उन दुःखों से मुक्त होने का उपाय बताया जाता है।

उक्त कथनशैली का औचित्य सिद्ध करते हुये पण्डित टोडरमलजी ने एक उदाहरण दिया है; उसमें कहा है कि जिसप्रकार वैद्य रोगी की नाड़ी देखकर कहता है कि तुझे पेट में दर्द होता है, नींद अच्छी नहीं आती है, रात को बुखार हो जाता है ?

वह पूछता जाता और मरीज हाँ-हाँ करता जाता।

वास्तव में तकलीफ तो रोगी को है, उसे बतानी चाहिए; किन्तु वैद्य विश्वास पैदा करने के लिये ऐसा करता है। रोगी सोचता है कि वैद्य ने जब बिना बताये, मात्र नाड़ी देखकर मेरी तकलीफ पहचान ली है; तब इसका इलाज भी सही होगा। फिर वह वैद्य बड़े ही करुणाभाव से कहता है कि तुम्हें यह तकलीफ इसलिए हुई कि तुमने अनाप-शनाप खाना खाया है, मांस-मदिरा का सेवन किया है, दिन-रात भखा है, खाने-पीने का ध्यान नहीं रखा है, बदपरहेजी की है। तब वह सोचता है कि यह वैद्य कितना जानकार है। इसने तो बिना बताये ही सबकुछ जान लिया। इसप्रकार वैद्य के प्रति विश्वास हो जाने से मरीज उसके

बताये परहेज पालता है, दवा लेता है और भी जो कुछ वैद्य आदेश देता है, उसका पालन करता है।

इसीप्रकार यहाँ संसारी जीव को पहले संसार के दु:ख बताये, उन दु:खों के कारण बताये और अब उन दु:खों से बचने का उपाय बताते हैं; जिन्हें वह न केवल सुनेगा, समझेगा; अपितु उन्हें क्रियान्वित भी करेगा।

एक दिन एक मरीज एक वैद्य के पास आया और रो-रोकर कहने लगा – मेरे पेट में भयंकर पीड़ा है। वैद्यजी ने उससे पूछा – गुड़ खाया था ? उसने कहा – नहीं खाया। वैद्यजी ने फिर पूछा – नहीं खाया? उसने कहा – हाँ साहब ! नहीं खाया। उन्होंने फिर पूछा – नहीं खाया ? उसने फिर बताया – नहीं खाया। तो नाराज होते हुए वैद्यजी बोले – मेरे सामने से हट जा। वैद्यजी ने उसे बहुत डाँटा। वह बेचारा हाथ-पैर जोड़ रहा था।

यह एक सत्य घटना है और मैं वहाँ उपस्थित था। वे वैद्यजी मेरे अभिन्न मित्र थे। अत: मैंने उनसे कहा – तुम बहुत निर्दयी हो। बेचारे को इतनी तकलीफ है और तुम डाँट रहे हो।

उन्होंने कहा – आप समझते नहीं तो बीच में क्यों बोलते हो। यह मेरा पुराना मरीज है। इसे पहले जो तकलीफ हुई थी, मैंने उसका इलाज किया था और इसको कह दिया था कि अब तुम जिंदगी में कभी भी तेल और गुड़ मत खाना। नहीं तो तुझे ऐसी ही भयंकर तकलीफ होगी। आज यह दुबारा आया है। इसने गारंटी से गुड़ और तेल खाया है। बिना उसके यह तकलीफ हो ही नहीं सकती है।

तब मैंने कहा – जब वह कसम खाकर मना कर रहा है कि उसने नहीं खाया, नहीं खाया, नहीं खाया; तब तो आपको विश्वास करना चाहिए।

उन्होंने कहा – नहीं, मैं नहीं मान सकता। बिना बदपरहेजी के यह तकलीफ होती ही नहीं है। मुझे यह जानना बहुत जरूरी है कि इसने

गुड़ खाया था या नहीं, तेल खाया था या नहीं। यदि यह सही बता देवें कि खाया था तो वही दवाई देनी पड़ेगी और नहीं खाया था तो दवाई बदलनी पड़ेगी। दवाई देने के पहले यह जानना बहुत जरूरी है और यह बता नहीं रहा है।

तब मैंने उस मरीज को समझाकर कहा कि तू सच बोल दे कि तूने गुड़ व तेल खाया था कि नहीं। तब उसने हाथ जोड़कर कहा –

साहब ! न मैंने गुड़ खाया, न मैंने तेल खाया, मैंने तो गुलगुले खाये थे। गुलगुले आटे में गुड़ डालकर तेल में पकाये जाते हैं।

तब वैद्यजी ने कहा – अब कोई तकलीफ नहीं है, यह पुड़िया ले जा, दो दिन में ठीक हो जायेगा। अब भविष्य में गुड़ नहीं, गुलगुले भी नहीं, किसी भी रूप में ये गुड़ और तेल तेरे खाने में नहीं आना चाहिए।

ऐसे ही यहाँ पर कह रहे हैं कि हमने तेरी तकलीफ बताई। यह भी बताया कि यह तुझे क्यों हुई है। गृहीत और अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन किया है; इसलिए यह तकलीफ हुई है।

बोल तूने इनका सेवन किया है या नहीं किया है ?

नहीं ! साहब सिर कट जाये, लेकिन किसी भी कुदेवादिक के सामने मेरा माथा नहीं झुके।

भैया ! इसके बिना यह तकलीफ हो ही नहीं सकती थी। चार गति और चौरासी लाख योनियों का परिभ्रमण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन के बिना हो ही नहीं सकता है।

अभी तक तो मरीज की सिर्फ जाँच हुई है।

अरे भाई ! हम जानते हैं कि तुम दुःखी हो और दुःखी क्यों हो – यह भी जानते हैं। अब तुम्हें हमारी बात पर भरोसा हो तो हम दुःख मेटने का उपाय बताते हैं। ध्यान से सुनो।

मोक्षमार्ग माने दु:खों से छूटने का उपाय। वह उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। वे दो प्रकार के होते हैं – एक निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और दूसरे व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। इसलिए अब तीसरी ढाल में इनकी चर्चा शुरू करते हैं।

देखो ! पहली ढाल में क्रम से चारों गतियों के दु:ख बताये, दूसरी ढाल में अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र तथा गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र – इनका स्वरूप समझाया। अब तीसरी ढाल में दु:खों से मुक्त होने का उपाय बताते हैं।

दूसरी ढाल के अन्तिम पद्य में लिखा है –

आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।

आत्मा और अनात्मा का ज्ञान जिन्हें नहीं है, वे धर्म के नाम पर जो भी क्रिया करेंगे, वह सिर्फ शरीर को सुखाने के काम आयेगी, दु:ख को मेटने के काम नहीं आयेगी। आत्मा और अनात्मा को समझे बिना उपवास करोगे तो वजन कम हो जायेगा। आज के जमाने में तो वह भी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। लेकिन आत्मा और अनात्मा को समझे बिना आत्मा का कल्याण हो जाये – यह सम्भव नहीं है।

यहाँ प्रारम्भ ही इस बात से करते हैं कि संसार में जितने जीव हैं, वे दु:खी हैं – यह बात तो सिद्ध ही है और वे दु:ख से छूटना चाहते हैं – यह भी सिद्ध है; क्योंकि हमारा जरा-जरा सा प्रत्येक प्रयत्न भी दु:ख से छूटने के लिए ही होता है।

आपने अभी-अभी आसन बदल लिया, क्यों बदला ? दर्द होने लगा इसलिए बदल लिया न। समझ लो इतना-सा प्रयत्न भी आपने दु:ख दूर करने के लिए ही किया है। हम अपने पेट को खाली भी सुखी

होने के लिए करते हैं और भरते भी सुखी होने के लिए हैं। कई बार भरा और कई बार खाली किया, लेकिन कभी सुखी नहीं हुये। अब यह नक्की करो कि सुख किसमें है अर्थात् आत्मा का हित किसमें है ?

तीसरी ढाल में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का निश्चय और व्यवहार से निरूपण है।

निश्चय का निरूपण तो मात्र तीन लाइनों में है, उसके बाद पूरी ढाल में जो भी वर्णन है, वह सब व्यवहार का निरूपण ही है।

व्यवहार के वर्णन में जीव तत्त्व में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की बात की। अजीव तत्त्व में छह द्रव्यों की चर्चा की। फिर आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा – इनको एक-एक, दो-दो पंक्तियों में निपटाया। और अन्त में सम्यग्दर्शन और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की बात कहकर सम्यग्दर्शन की महिमा बताई।

तीसरी ढाल की आरंभिक पंक्तियाँ इसप्रकार हैं –

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न तातैं, शिव-मग लाग्यौ चहिये।।

आत्मा का हित सुख में है और वह सुख जहाँ आकुलता नहीं हो, वहाँ होता है। आकुलता का नाम है दुःख और निराकुलता का नाम है सुख। आकुलता मोक्ष में नहीं है। इसलिए हमें मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिये।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै, जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै।
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढ़नि मैं मुखिया।।[1]

मूर्खों के सरदार तीन प्रकार के होते हैं। एक नंबर के वे जो बिना आत्मज्ञान के मोक्ष मानते हैं। दूसरे नंबर के वे जो बिना चारित्र के मोक्ष

१. नाटक समयसार, पृष्ठ : १३६

हो जायेगा – ऐसा मानते हैं। तीसरे नंबर के वे जो हम तो यहीं पर सुखी हैं, मोक्ष में जाने की क्या जरूरत है ?

जो लोग यह कहते हैं कि मोक्ष के बिना भी सुख है, माने स्वर्गों में सुख है और अमेरिका में सुख है, पैसों में सुख है; वे मूर्खों के सरदार हैं।

जिनको यह समझ में आया हो कि चारों गतियों में दुःख ही दुःख हैं, संसार में सुख है ही नहीं, उन्हें मोक्ष के मार्ग में लगने के लिए यह बात कही जाती है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिव मग सो द्विविध विचारो।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है और उस मोक्षमार्ग को समझने के लिए दो तरह से विचार करना चाहिए।

उक्त सन्दर्भ में टोडरमलजी लिखते हैं –

"मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाये, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग तो नहीं है, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है।[१]"

ये पंक्तियाँ मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार के उभयाभासी के प्रकरण में हैं।

निश्चय मोक्षमार्ग तो मात्र इतना ही है कि परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा को निजरूप जानना सम्यग्ज्ञान है, उसी में अपनापन स्थापित होना सम्यग्दर्शन है और उसी में लीन हो जाना, समा जाना सम्यक्चारित्र है।

उक्त सन्दर्भ में निम्नांकित छन्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है –

परद्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जानपनो सो सम्यक् ज्ञान कला है।।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : २४८

आपरूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये हेतु नियत को होई।।

परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा में रुचि सम्यग्दर्शन है, अपने स्वरूप को जानना ही सम्यग्ज्ञान है और अपने स्वरूप में लीन होना ही चारित्र है – यह निश्चय मोक्षमार्ग है। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा को जानकर उसी में अपनापन कर, उसी में समा जाना वास्तविक धर्म है; शेष सब व्यवहार है। इसके बाद पूरी ढाल में व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का ही वर्णन है।

उक्त निश्चय के प्रतिपादन में आत्मा की रुचि, आत्मा का जानना और आत्मा की लीनता – इन तीनों में आत्मा ही मुख्य है; इसलिये उक्त मोक्षमार्ग को प्रगट करने के लिये आत्मा को जानना बहुत जरूरी है।

सारी दुनिया को जाना और आत्मा को नहीं जाना तो समझ लेना कुछ नहीं जाना। कहा भी है –

जाना नहीं निज आत्मा ज्ञानी हुये तो क्या हुये।
ध्याया नहीं निज आत्मा तो ध्यानी हुये तो क्या हुये।।

तीन लाईनों में तो निश्चय की बात करके चौथी लाईन में कह दिया कि अब व्यवहार मोक्षमार्ग के बारे में सुनो, जो निश्चय का हेतु है, साधन है, कारण है।

प्रश्न : निश्चय से तो मात्र अपने आत्मा को ही जानना है; पर व्यवहार में तो सात तत्त्वों को जानने की बात कही गई है, देव-शास्त्र-गुरु को जानने की बात कही गई है। इनको जाने कि नहीं ?

उत्तर : यदि अपनी आत्मा को जानना है तो यह भी जानना पड़ेगा कि जिसे मैं आजतक आत्मा जानता रहा हूँ, वह क्या है ? आत्मा से भिन्न जो कुछ भी इस जग में है, उसे एक शब्द से कहना हो तो अनात्मा

ही कहना होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा को जानने के लिये अनात्मा को भी जानना होगा। विगत ढाल में कहा भी है कि –

आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।

जो व्यक्ति आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हैं, वे धर्म के नाम पर जो कुछ भी क्रिया करते हैं, वह सब क्रिया तन को क्षीण करनेवाली है, शरीर को सुखानेवाली है। इससे अधिक कुछ नहीं।

आत्मा माने जीव और अनात्मा माने अजीव। इसप्रकार आत्मा और अनात्मा को जानना जीव-अजीव तत्त्व को जानना ही तो हुआ।

जिसे शुद्ध घी की दुकान करना है, उसे घी के साथ-साथ उन वस्तुओं का ज्ञान करना भी जरूरी है कि जिनको धोके से घी समझा जा सकता है; अन्यथा हम मिलावट से बच नहीं सकते।

उसीप्रकार हमें आत्मा का ध्यान करना है तो हमें आत्मा (जीव) के साथ-साथ अनात्मा (अजीव) को भी जानना होगा, अन्यथा हम मिलावट से बच नहीं सकते।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शर्त पर से भिन्न आत्मा को जानने की है; अतः स्व और पर अर्थात् आत्मा-अनात्मा का ज्ञान जरूरी है।

हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि आत्मा (स्व) को पाने के लिए जानना है और अनात्मा (पर) को छोड़ने के लिए जानना है; उसमें से अपनापन तोड़ने के लिये जानना है।

दोनों के जानने में बहुत बड़ा अन्तर है। मान लीजिये हमें जयपुर जाना है और हम एक चौराहे पर खड़े हैं तो हमें जयपुर का रास्ता भी जानना और जो रास्ते जयपुर नहीं जाते, उन्हें भी जानना है; पर दोनों के जानने में अन्तर है।

जिस रास्ते पर जाना है; उसे तो पूरी तरह जानना है। यह भी

जानना है कि रास्ता ठीक तो है, रास्ते में डर तो नहीं है, रात को भी जा सकते हैं या नहीं, पेट्रोल पंप और चाय की दुकाने हैं या नहीं; पर जिन रास्तों पर जाना नहीं है; उन्हें मात्र इतना ही जानना है कि ये रास्ते जयपुर के नहीं हैं। उनके बारे में इससे अधिक कुछ जानने की जरूरत नहीं है; क्योंकि हमें उनपर जाना ही नहीं है।

इसीप्रकार आत्मा (जीव) को तो निजरूप जानना-मानना है; उसी में रम जाने के लिये जानना है; किन्तु अनात्मा अर्थात् परपदार्थों को 'ये पर हैं' – मात्र इतना ही जानना है, इससे अधिक कुछ नहीं।

जीव को ऐसा जानना है कि यह ज्ञानानन्द स्वभावी जीव मैं हूँ और अजीव को ऐसा जानना है कि ये शरीरादि अजीव पदार्थ मैं नहीं हूँ। इसका नाम जीव-अजीव तत्त्व का ज्ञान है।

यहाँ शरीर में कितनी हड्डियाँ हैं और कितना खून होता है – यह जानना शरीर का जानना नहीं है; पर पुद्‌गलरचित हाड़-मांस का यह शरीर मैं नहीं हूँ – इतना जानना ही पर्याप्त है।

आत्मा तीन प्रकार के हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। देह (अजीव) और जीव को एक माननेवाले बहिरात्मा हैं और अन्तरात्मा तीन प्रकार के हैं – उत्तम, मध्यम और जघन्य।

दो प्रकार के परिग्रह से रहित, अपने आत्मा का ध्यान करने वाले सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के शुद्धोपयोगी मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं तथा पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती गृहस्थ और छटवें गुणस्थान में रहनेवाले शुभोपयोगी मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य अन्तरात्मा हैं। ये तीनों ही अन्तरात्मा मोक्षमार्गी हैं।

सकल और निकल के भेद से परमात्मा दो प्रकार के हैं। घातिया कर्मों को नष्ट करनेवाले और लोकालोक में देखने-जाननेवाले अरहंत

भगवान देहसहित होने से सकल परमात्मा हैं और ज्ञान ही है शरीर जिनका, ऐसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित अमल सिद्ध भगवान देहरहित होने से निकल परमात्मा हैं। ये निकल और सकल परमात्मा अनंत सुख को अनन्तकाल तक भोगनेवाले हैं।

इनमें से बहिरात्मापने को हेय जानकर छोड़ देना चाहिए, अन्तरात्मा हो जाना चाहिये और परमात्मा का ध्यान निरन्तर करना चाहिये; उससे तुझे नित्यानन्द की प्राप्ति होगी।

चेतना से रहित अजीव पाँच प्रकार के हैं। जिनमें आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, पाँच रस और दो प्रकार की गंधवाला पुद्गल है; जीव और पुद्गलों को चलने में निमित्तरूप धर्मद्रव्य और ठहरने में निमित्तरूप अधर्मद्रव्य अमूर्तिक होने से अरूपी हैं।

जिसमें छहों द्रव्य रहते हैं, वह आकाश है; वर्तना निश्चयकाल है और घड़ी-घंटा, दिन-रात व्यवहारकाल है।

यह तो जीव-अजीव तत्त्व की बात हुई; अब कहते हैं कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विकारी पर्यायरूप मोह-राग-द्वेषभाव भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि ये भाव आस्रवभाव हैं, बंधरूप भाव हैं, पुण्य-पापरूप भाव हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय सहित उपयोग ही आस्रव है और आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का बंधन बंध है। ये आस्रव और बंध आत्मा को दु:ख देनेवाले हैं। कहा भी है –

ये ही आतम को दु:ख कारण, तातैं इनको तजिये।
जीव प्रदेश बँधैं विधि सौं सो, बंधन कबहुँ न सजिये॥

ये आस्रवभाव आत्मा को दु:ख देनेवाले हैं; इसलिए इनको छोड़ देना चाहिये और आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का बंधना बंध है; ऐसा बंध कभी नहीं करना चाहिये।

इन्हें विस्तार से जाने तो ठीक, न जाने तो भी कोई बात नहीं; पर ये जो रागादिभाव आस्रव हैं, बंध हैं; ये मैं नहीं हूँ। यद्यपि ये मेरी ही विकारी पर्यायें हैं, पर दु:खदायी हैं; इसलिए मेरी नहीं हैं।

जो दु:ख का कारण होते हैं, वे निकाल देने लायक होते हैं और यदि उन्हें आप अपना मानेंगे तो फिर निकालेंगे कैसे ? इसलिए वे भले ही अपने में पैदा होते हैं, पर दु:ख के कारण होने से हमारे नहीं हैं।

हम इस बात को निम्नलिखित उदाहरण से समझ सकते हैं –

मैं एक स्थान पर पर्यूषण में व्याख्यान कर रहा था। एक अम्माजी प्रवचन के बीच में ही एकदम खड़ी हो गई और कहने लगीं –

पण्डितजी ! प्रवचन बंद करो और पहले मेरी बात सुनो। मैं चार दिनों से भूखी बैठी हूँ, ये पंच लोग मेरे खाने का इंतजाम क्यों नहीं करते ? मैंने कहा – गजब हो गया, एक साधर्मी बहन भूखी बैठी है और बड़े-बड़े दानवीर लोग यहाँ बैठे हैं। क्यों भाई ! क्या बात है ?

लोगों ने कहा – पण्डितजी ! आप इन बातों में मत उलझो। उस अम्मा के चार-चार जवान बेटे हैं, एक-एक की चार-चार दुकानें हैं, चारों करोड़पति हैं। इनकी व्यवस्था वे नहीं करते तो हम क्यों करें ?

मैंने कहा – बात तो सच्ची है। क्यों अम्माजी तुम्हारे चार-चार बेटे हैं ?

अम्मा ने कहा – मेरा एक भी बेटा नहीं है।

पंच कह रहे थे कि चार-चार बेटे हैं और अम्मा कह रही थी कि मेरा एक भी बेटा नहीं है। अत: मैंने अम्मा से कहा – अम्मा ! सच बोलो, इतने लोग कह रहे हैं कि तुम्हारे चार-चार बेटे हैं।

अम्मा ने अत्यन्त अरुचिपूर्वक दु:ख के साथ कहा –

बेटा ! ये बेटे नहीं होते तो अच्छा था, ये तो नहीं होने से भी बुरे हैं; क्योंकि वे खुद व्यवस्था करते नहीं हैं और वे हैं, इसलिए पंच भी व्यवस्था नहीं करते हैं। उनका होना मेरे लिए नहीं होने से भी बुरा है।

इससे तो मैं बाँझ रह जाती तो अच्छा रहता। मैं उन्हें अपना बेटा नहीं मानती हूँ।

यद्यपि वे बेटे उसकी कूंख से पैदा हुये हैं; फिर भी वह उन्हें अपना नहीं मानती; क्योंकि वे सुखदायक नहीं, दु:खदायक हैं।

इसीप्रकार यद्यपि मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव, बंधभाव, पुण्य-पापभाव आत्मा में ही पैदा होते हैं, आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं; तथापि ज्ञानीजन उन्हें अपना नहीं मानते; क्योंकि वे आत्मा को सुखदायक नहीं, दु:खदायक हैं।

इसप्रकार आस्रव, बंध और पुण्य-पाप की चर्चा की।

अब संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्व की चर्चा करते हैं।

शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये।
तप-बल तैं विधि-झरन निर्जरा, ताहि सदा आचरिये॥
सकल कर्म तैं रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी।

सम्यग्दर्शनपूर्वक कषायों के शमन और इन्द्रियों के दमन से जो कर्मों का आस्रव रुकता है, वह संवर है; उसका आदर करना चाहिये और तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति तथा शुद्धोपयोगरूप तप के बल से जो पुराने कर्म झरते हैं, वह निर्जरा है। इस निर्जरा का आचरण सदा करना चाहिए। सम्पूर्ण कर्मों से रहित जो जीव की अवस्था है, वह अनन्तसुखमय मोक्ष है।

तत्त्वोंसंबंधी उक्त व्याख्या यद्यपि एक-एक पंक्ति में ही है; तथापि उन एक-एक पंक्तियों में न केवल संबंधित तत्त्व का स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट हो गया है; अपितु तत्संबधित हेयोपादेय व्यवस्था भी बता दी गई है।

यही कारण है कि छहढाला को गागर में सागर कहा जाता है।

पंक्तियों की अन्तिम शब्दावली देखनेलायक है। तजिये, न सजिये,

आदरिये और आचरिये – इन चार शब्दों में आस्रव-बंध का हेयपना और संवर-निर्जरा का उपादेयपना स्पष्ट हो गया है।

तत्त्वों के स्वरूप प्रतिपादन में हम कितना ही विस्तार क्यों न कर दे; किन्तु यदि हेयोपादेय नहीं बताया गया तो समझिये बात अधूरी ही रह गयी है। अब कहते हैं कि –

इह विधि जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी॥

इसप्रकार हेयोपादेय व्यवस्था सहित उक्त सात तत्त्वों की जो श्रद्धा है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसके बाद दौलतरामजी कहते हैं –

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
ये हु मान समकित को कारण, अष्ट अंगजुत धारो॥

जिनेन्द्र देव, परिग्रह रहित गुरु और करुणामयी धर्म को भी सम्यग्दर्शन का कारण मानना चाहिये। अतः हे भव्यजीवों ! इस सम्यग्दर्शन को आठ अंगों सहित धारण करो।

सात तत्त्व और देव, गुरु, धर्म के श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन का निरूपण करने के उपरान्त विषयवस्तु को समेटते हुये वे कहते हैं कि –

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो।
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित पागो॥
अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपहु कहिये।
बिन जाने तैं दोष-गुनन को, कैसे तजिये गहिये॥

आठ मदों को टालकर, तीन मूढ़ताओं का निवारण करके छह अनायतनों को त्याग दो और शंकादि आठ दोषों से रहित होते हुये प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकंपा आदि सद्गुणों में चित्त लगाओ; क्योंकि जबतक गुणों और दोषों को पहिचानेंगे नहीं, तबतक गुणों को

ग्रहण करना और दोषों को छोड़ना संभव नहीं है; अतः अब संक्षेप में आठ अंगों और पच्चीस दोषों का वर्णन करते हैं।

महाकवि तुलसीदासजी भी रामचरितमानस में लिखते हैं –

संग्रह-त्याग न विनु पहिचाने

बिना पहिचान के किसी भी वस्तु का ग्रहण करना और त्याग करना संभव नहीं है।

अब निःशंकादि अंगों (गुणों) और शंकादि दोषों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है –

जिन-वच में शंका न धार, वृष भव सुख-वांछा भानै।
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै॥
निज-गुण अरु पर-औगुण ढाँकै, वा निज धर्म बढ़ावै।
कामादिक कर वृष तैं चिगते, निज-पर को सु दिढ़ावै॥
धर्मी सौं गो-वच्छ प्रीति सम, कर निज धर्म दिपावै।
इन गुन तैं विपरीत दोष वसु, तिनको सतत खिपावै॥

जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका नहीं रखना निःशंकित अंग है; धर्म से सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करना निःकांक्षित अंग है; अस्नानव्रती मुनिराजों के मलिन तन को देखकर घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है; तत्त्व और कुतत्त्वों की पहिचान करना अमूढ़दृष्टि अंग है; अपने गुणों और दूसरे के दोषों को प्रगट नहीं करना उपगूहन अंग है और इस उपगूहन अंग को धर्म की वृद्धि का कारण होने से उपबृंहण अंग भी कहते हैं।

स्वयं या कोई अन्य व्यक्ति कामादिक के कारण धर्म से चिग रहा हो तो स्वयं को या उसे धर्म में स्थिर कर देना, दृढ़ कर देना स्थितिकरण अंग है। जिसप्रकार बिना किसी स्वार्थ के गाय बछड़े से वात्सल्यभाव रखती है; उसीप्रकार साधर्मी भाई-बहनों से वात्सल्यभाव रखना वात्सल्य अंग है और अपने धर्म की प्रभावना करना प्रभावना अंग है।

इन आठ अंगों को धारण करना और इनसे विपरीत शंका, कांक्षा आदि आठ दोषों से निरन्तर दूर रहना सम्यग्दृष्टियों का कर्त्तव्य है।

पच्चीस दोषों में से अब आठ मदों की चर्चा करते हैं –

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठानै।
मद न रूप कौ मद न ज्ञान कौ, धन-बल कौ मद भानै॥
तप को मद न मद जु प्रभुता कौ, करै न सो निज जाने।
मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै॥

पिता या मामा राजा हो तो भी इस बात का अभिमान नहीं करना चाहिये। इसीप्रकार सुन्दरता का, क्षयोपशम ज्ञान का, धन का,बल का, तप का और प्रभुता का मद जो नहीं करता, वह आत्मा को जानता है, आत्मानुभव करता है। यदि उक्त आठ मदों को धारण करे तो ये आठ दोष सम्यग्दर्शन में मल पैदा करते हैं।

प्रश्न : पिता राजा हो तो कुलमद है। मामा राजा हो तो जातिमद – यह बात कुछ ठीक नहीं लगती; क्योंकि यदि ऐसा है तो फिर कुलमद तो अकेले राजा के बेटे को और जातिमद राजा के भानजे को ही होगा; परन्तु अन्य मिथ्यादृष्टियों को भी तो कुलमद-जातिमद हो सकते हैं, होते ही हैं।

उत्तर : वस्तुत: बात यह है कि पिता नियम से हमारे कुल का ही होता है और मामा नियम से हमारे कुल का नहीं हो सकता; क्योंकि अपने कुल में, अपने गोत्र में शादियाँ नहीं होती।

जिसप्रकार एक ही कुल के लड़के-लड़की में परस्पर शादी नहीं होती; उसीप्रकार पुराने जमाने में जाति के बाहर भी शादियाँ नहीं होती थीं। अत: यहाँ पिता शब्द कुल का सूचक है और मामा शब्द जाति का सूचक है। इसप्रकार यहाँ पर कुलमद को पिता से और जातिमद को मामा के बड़प्पन से जोड़ा गया है।

वस्तुतः बात यह है कि 'मैं ऊँचे कुल का हूँ, मैं ऊँची जाति का हूँ' – ऐसा मानकर अभिमान करना या 'मैं नीचे कुल का हूँ, मैं नीची जाति का हूँ' – ऐसा मानकर दीनता लाना कुलमद और जातिमद हैं।

कुलमद और जातिमद के लिये किसी राजा का बेटा-भानजा होना जरूरी नहीं है। यहाँ राजा शब्द को प्रतीक के रूप में ही लिया गया है।

अब तीन मूढ़ता और छह अनायतन की बात करते हैं –

कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की, नाहिं प्रशंस उचरै हैं।
जिन मुनि जिन श्रुत बिन, कुगुरादिक तिन्हैं न नमन करै हैं।।

कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और इनके सेवकों अर्थात् कुदेवसेवक, कुगुरुसेवक और कुधर्मसेवक – इन छहों की न तो मन से प्रशंसा करते हैं और न वचन से स्तुति करते हैं; क्योंकि ये छह अनायतन हैं, धर्म के आयतन (घर) नहीं हैं। ज्ञानीजन उक्त छह अनायतनों से दूर रहते हैं।

जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और जैनगुरुओं के अतिरिक्त कुगुरु आदि को नमस्कार नहीं करते। ज्ञानी जीवों का यह तीन मूढ़ताओं का त्याग है।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन के निरूपण करने के उपरान्त सम्यग्दर्शन से सम्पन्न ज्ञानी का गुणगान करते हुये पण्डित दौलतरामजी कहते हैं –

दोष-रहित गुण-सहित सुधी जे, सम्यग्दर्श सजै हैं।
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।।
गेही पै गृह में न रचे ज्यों, जल तैं भिन्न कमल हैं।
नगर-नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल हैं।।

जो सुधीजन पच्चीस दोषों से रहित और आठ गुणों (अंगों) से सहित सम्यग्दर्शन से सज्जित हैं; यद्यपि चारित्रमोह के वश होने से उनके रंचमात्र भी संयम नहीं है; तथापि देवेन्द्र उनकी स्तुति-वंदना करते हैं, गुणगान करते हैं।

जिसप्रकार जल के बीच रहता हुआ कमल जल से भिन्न ही रहता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि गृहस्थ हैं, घर में रहते हैं; पत्नी-परिवार के बीच रहते हैं; तथापि घर में रचते-पचते नहीं हैं।

उनका प्यार तो नगर-नारी (वेश्या) के समान दिखावटी ही है; वे तो घर में उसीप्रकार निर्मल रहते हैं कि जिसप्रकार कीचड़ पड़ा हुआ सोना निर्मल रहता है।

ध्यान रहे यहाँ सम्यग्दृष्टि के स्नेह की तुलना वेश्या से मात्र निर्लिप्तता की अपेक्षा ही की गई है।

इसप्रकार इस ढाल को तो उन्होंने सम्यग्दर्शन तक ही सीमित रखा और अन्त में घोषणापूर्वक कहा कि देखो भाई ! यदि तुमने यह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया तो समझ लो कि –

प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक् धारी।।
तीनलोक तिहुँकाल माहिं नहिं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धर्म को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी।।

सम्यग्दृष्टि जीव पहले नरक को छोड़कर छह नरकों में नहीं जाता है। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी नहीं होता। नपुंसक व स्त्री पर्याय में नहीं जाता। स्थावर और विकलत्रय अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय नहीं होता और तिर्यंच गति में भी उत्पन्न नहीं होता।

तीन लोक में और तीन कालों में सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी अन्य कोई पदार्थ नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप आदि सभी धर्मों का मूल है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना ये धर्म हो ही नहीं सकते। अधिक क्या कहें, इस सम्यग्दर्शन के बिना जो भी क्रिया की जायेगी, वह दुःखकारी ही सिद्ध होगी।

प्रश्न : एक ओर यह लिखा है सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक को छोड़कर शेष छह नरकों में नहीं जाते। इसका अर्थ यह हुआ कि वे पहले नरक में जाते हैं, जा सकते हैं, राजा श्रेणिक सम्यग्दृष्टि होते हुये भी नरक गये भी हैं; वही दूसरी ओर यह लिखा कि वे नपुंसक नहीं होते, जबकि नारकी नियम से नपुंसक ही होते हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है ?

उत्तर : बात यह है कि सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में नरकायु का बंध नहीं होता; अतः वे नरक में नहीं जाते – ऐसा कहना भी गलत नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसा ही लिखा है –

सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुः दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥[१]

जो प्राणी सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं; वे प्राणी अव्रती होने पर भी नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को प्राप्त नहीं होते; उनका जन्म नीचकुल में नहीं होता, वे विकृत अंगवाले नहीं होते, अल्पायु नहीं होते और दरिद्री भी नहीं होते। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन होने के बाद उक्त अवस्थायें प्राप्त हों – ऐसा पापबंध नहीं होता।

वस्तुतः बात यह है कि यदि सम्यग्दर्शन होने से पहले नरकायु-नरकगति बंध जावे तो बाद में सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी गतिबंध नहीं छूटता; हाँ आयुकर्म की स्थिति का अपकर्षण हो सकता है।

यही कारण है कि राजा श्रेणिक को नरकायु की ३३ सागर की स्थिति बंधी, जो घटकर ८४ हजार वर्ष ही रह गयी। ८४ हजार वर्ष की स्थिति प्रथम नरक में ही होती है। इसलिए राजा श्रेणिक प्रथम नरक में ही गये। जब नरक गये तो नपुंसक भी हुये ही हैं; क्योंकि नरकायु के साथ नपुंसक वेद भी बंध जाता है।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक : ३५

आचार्य कुन्दकुन्द अष्टपाहुड़ के दर्शनपाहुड़ और मोक्षपाहुड़ सम्बन्धी प्रकरण में सम्यग्दर्शन की महिमा समझाते हुये लिखते हैं –

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।।[१]
समत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।[२]
किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं।।[३]

(हरिगीत)

दृग-भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना।
हों सिद्ध चारित्र-भ्रष्ट पर दृग-भ्रष्ट को निर्वाण ना।।
यद्यपि करें वे उग्र तप शत-सहस-कोटी वर्ष तक।
पर रतनत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व-विरहित साधु सब।।
मुक्ती गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का।
यह जान लो हे भव्यजन! इससे अधिक अब कहें क्या।।

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं; उनको कभी निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं; परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि चारित्र की अपेक्षा श्रद्धा का दोष बड़ा माना गया है।

जो मुनि सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे हजार करोड़ (दश अरब) वर्ष तक भलीभाँति उग्र तप करें, तब भी उन्हें बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति नहीं होती है।

---

१. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा ३
२. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा ५
३. अष्टपाहुड़ : मोक्षपाहुड़, गाथा ८८

अधिक कहने से क्या लाभ है, इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुये हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो आज तक कोई सिद्ध हुआ है और न भविष्य में होगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसे सभी धर्मों का मूल कहा गया है।[१]

इसके बाद अंतिम चेतावनी देते हुये कविवर पण्डित दौलतरामजी लिखते हैं –

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।

यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। इसलिए हे भव्यजीवों ! जैसे भी बने इस सम्यग्दर्शन को अवश्य धारण करो।

दौलतरामजी कहते हैं कि यदि तुम सयाने (समझदार) हो तो सुनो, समझो और चेतो, व्यर्थ में समय खराब मत करो; क्योंकि यदि इस भव में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो दुबारा यह मनुष्यभव मिलना अत्यन्त कठिन है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन का स्वरूप और महिमा का निरूपण करनेवाली तीसरी ढाल समाप्त होती है। ●

१. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा २ एवं छहढाला : ढाल ३, छन्द १६

आवश्यकता चिन्तन और ध्यान के प्रशिक्षण की नहीं, अपितु सम्यक् दिशानिर्देश की है; क्योंकि चिन्तन और ध्यान तो संज्ञी प्राणी के सहज स्वभाव हैं। चिन्तन की धारा और ध्यान का ध्येय यदि सम्यक् न हो, स्पष्ट न हो तो चिन्तन और ध्यान भवतापनाशक न होकर भव-भव भटकाने के हेतु भी बन सकते हैं; अतः चिन्तन की धारा का नियमन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। – बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ -१३

चौथा प्रवचन

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै।।

पहली ढाल में यह बताया था कि चारों गतियों में दु:ख ही दु:ख हैं, संसार में सुख कहीं भी नहीं है। दूसरी ढाल में उक्त दु:खों के कारणरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की चर्चा की। तीसरी ढाल में उन दु:खों से मुक्त होने के उपायरूप निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सामान्य चर्चा करके सम्यग्दर्शन के स्वरूप और महिमा पर विशेष प्रकाश डाला।

अब इस चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप समझाकर, महिमा बताकर, देशचारित्र का निरूपण करेंगे।

चौथी ढाल के प्रारंभिक दोहे में ही कहा है –

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान।।

सम्यक् श्रद्धा धारण करके सम्यग्ज्ञान का सेवन करो; क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान अनन्तधर्मात्मक स्व-पर पदार्थों को प्रगट करने के लिये सूर्य के समान है। जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश में सभी पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में भी सभी स्व-पर पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि उक्त दोहे में तो यह कहा है कि सम्यग्दर्शन को प्रगट करने के उपरान्त सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिये; परन्तु अगले ही छन्द में यह कहा है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही प्रगट होते हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि बात तो यही सही है कि ज्ञान और

ही आता है; किन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन का वर्णन विगत ढाल में हो चुका है और सम्यग्ज्ञान का अब होगा – इसी अर्थ में उक्त प्रयोग हो गया है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रगट होते हैं; तथापि उनमें कारण-कार्यभाव माना गया है। इस बात को समझाते हुये अगले ही छन्द में कहते हैं –

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जानि, दुहू में भेद अबाधौ।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हूँ, प्रकाश दीपक तैं होई।।

यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है; तथापि उनमें लक्षणभेद है। सम्यग्दर्शन का लक्षण श्रद्धान करना है और ज्ञान का लक्षण जानना है। इनमें कारण-कार्य सम्बन्ध भी कहा गया है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश एक साथ ही प्रगट होते हैं, फिर भी दीपक को कारण और प्रकाश को कार्य कहा जाता है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रगट होते हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन को कारण और सम्यग्ज्ञान को कार्य कहा गया है।

वस्तुत: बात यह है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र में मिथ्यापना मिथ्यात्व के कारण आता है; मिथ्यात्व गया तो तीनों एक साथ ही सम्यक् हो जाते हैं।

आजकल बिक्री बढ़ाने के लिए व्यापारियों ने एक नई पद्धति चलाई है कि एक वस्तु खरीदो तो उसीप्रकार की दूसरी वस्तु नि:शुल्क प्राप्त होगी। इसीप्रकार यहाँ है कि आप सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ कीजिये तो उक्त पुरुषार्थ से ही सम्यग्दर्शन के साथ-साथ सम्यग्ज्ञान की भी प्राप्ति हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि ज्ञान को सम्यग्ज्ञान होने के लिये अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता।

आप कह सकते हैं कि व्यर्थ के इस व्यायाम से क्या लाभ है ? इससे अच्छा तो यही है कि उस वस्तु की आधी कीमत कर दी जावे।

आधी कीमत करने से बिक्री बढ़ेगी नहीं; अपितु आधी रह जायेगी; क्योंकि माल तो उतना ही जायेगा, पर पैसे आधे आयेंगे।

यदि किसी को एक समयसार चाहिये; तो वह आधी कीमत कर देने पर भी एक समयसार ही खरीदेगा; क्योंकि उसे दो ग्रन्थों की आवश्यकता ही नहीं है।

यदि एक के साथ एक फ्री मिलेगा तो दो ले लेगा और दूसरा किसी को भेंटस्वरूप दे देगा। इसतरह एक की जगह दो समयसार बिक जायेंगे और एक समयसार ऐसे व्यक्ति के पास पहुँच जायेगा कि जिसके पास पहुँचाना संभव ही नहीं था; वह तो खरीदनेवाला था नहीं; क्योंकि उसे समयसार की आवश्यकता ही नहीं थी।

एक के साथ एक वस्तु फ्री मिलने का ऐसा मनोवैज्ञानिक आकर्षण है कि व्यक्ति उस पर आकर्षित हुये बिना नहीं रहता।

इसी मनोवैज्ञानिक आकर्षण का प्रयोग यहाँ पण्डित दौलतरामजी ने किया है कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति का पुरुषार्थ करे तो सम्यग्दर्शन के साथ-साथ सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त हो जायेगा, अनन्तानुबंधी कषाय चौकड़ी चली जाने से चारित्र गुण में सम्यक्पना आ जायेगा।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें तीसरी लब्धि है देशनालब्धि। देशनालब्धि में भगवान आत्मा को, सात तत्त्वों को सर्वज्ञ की वाणी सुनकर या उनकी वाणी के अनुसार लिखे गये शास्त्रों को पढ़कर या उनके मर्म को समझनेवाले ज्ञानी धर्मात्माओं से सुनकर समझा जाता है।

यद्यपि उक्त समझ भी सत्यज्ञान है; तथापि जब तक आत्मानुभूति नहीं हो जाती, तब तक वह सत्यज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नाम नहीं पाता। आत्मानुभूति के काल में उक्त सही जानकारी सम्यग्ज्ञान के रूप में और

उसी का श्रद्धान तथा आत्मा में अपनापन सम्यग्दर्शन के रूप में परिणमित हो जाता है।

यही कारण है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति एक साथ होती है, फिर भी ये दोनों क्रमशः श्रद्धा गुण और ज्ञान गुण की पर्यायें हैं; इसलिये अन्य-अन्य ही हैं।

एक यात्री को पेट में भयंकर दर्द हुआ और वह तड़फने लगा; तब सामने बैठे यात्री ने अपनी जेब से एक पुड़िया निकाली और कहा – भैया ! यदि यह दवाई खाओगे तो तुम्हारा दर्द ठीक हो सकता है।

तब उसने कहा – तुम जैसे बहुत देखे हैं, मैं सारे हिन्दुस्तान का चक्कर काट चुका हूँ, अनेकों बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाया है; परन्तु कोई भी मेरा पेटदर्द ठीक नहीं कर पाया और तुम ......।

इसने कहा – भैया ! इसमें क्या तकलीफ है ? मैं तुमसे पैसा तो माँग नहीं रहा हूँ। मुफ्त की पुड़िया है, खाकर देख लो, ठीक हो जायेगा तो अच्छा है, नहीं हुआ न सही।

ऐसा कहते हुये उसने वह पुड़िया उसके हाथ में जबरदस्ती रख दी। इसने अरुचिपूर्वक ले तो ली, लेकिन धीरे से वहीं छोड़ दी, वह नीचे गिर गई। बहुत देर तक वह पुड़िया वहीं नीचे पड़ी रही। जिसने पुड़िया दी थी, वह रेल से अगले स्टेशन पर उतर गया।

उसके बाद जब उसे बहुत दर्द हुआ और कोई इलाज नहीं दिखा तो उसके मन में आया कि इस पुड़िया को खाकर देखूँ।

तब उसने वह पुड़िया खायी और सचमुच पाँच मिनिट में दर्द ऐसा गायब हुआ कि जैसे गधे के सिर से सींग गायब हो गया हो। अब वह आदमी सामने नहीं है, उससे पूछा भी नहीं था कि वह कौन से गाँव का है और क्या नाम है? न मालूम पुड़िया में क्या था, कैसी दवाई थी ? कुछ पता नहीं।

अब उसको उस दवाई पर पक्की श्रद्धा हो गई; क्योंकि अब वह उसका अनुभव कर चुका है; अतः अब उस देनेवाले की तलाश करता है, समाचर-पत्रों में और टी. वी. पर विज्ञापन देता है। सब तरह से उसकी खोज करता है; क्योंकि उसे यह पता नहीं है कि उस पुड़िया में क्या था, उस दवा का नाम क्या था ?

अब दवा के साथ-साथ उस व्यक्ति पर भी अटूट विश्वास हो गया है। कुछ-कुछ विश्वास तो पहले भी था, अन्यथा वह उस दवाई को खाता ही नहीं; किन्तु खाने के बाद आराम होने पर जैसा अटूट विश्वास हुआ है, वैसा पहले नहीं था – यह बात भी परमसत्य है; क्योंकि होता तो दवाई उसी समय खा लेता।

ज्ञानीजनों ने करुणा करके सीख दी और हमने उपेक्षा से उड़ा दी। वह सीख वहीं पर पड़ी रही। दो-चार बातें कान में पड़ गई थी, जब भयंकर पीड़ा हुई और कोई रास्ता नहीं दिखा, तब वह रास्ता अपनाया और थोड़ी शान्ति प्राप्त हुई। तो अब उन ज्ञानीजनों की तलाश करते हैं।

यद्यपि गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान तो पहिले भी था, लेकिन जब पक्की श्रद्धा हुई, तब उस ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान पड़ा। सात तत्त्व उसने आज ही नहीं सीखे हैं, वे तो पहले भी सीखे थे और पर से भिन्न आत्मा है – यह भी पहले सुना था। छहढाला की पंक्तियाँ बराबर रटीं थीं। अम्माजी ने सारी जिंदगी पाठ किया था। लेकिन वह समझ में नहीं आया तो नहीं आया। लेकिन जिस दिन वह सम्यग्दर्शन पैदा होगा, तो यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिणमित हो जायेगा। दृष्टि मिलनी चाहिए।

हमारी भी यही हालत थी, हम शास्त्री हो गये थे, न्यायतीर्थ हो गये थे, रोजाना प्रवचन करते थे, बिना चैलेंज के कोई प्रवचन समाप्त नहीं होता था। न्यायशास्त्र पर पूरा अधिकार था, पर तत्त्वज्ञान से शून्य ही थे। जिस दिन स्वामीजी से यह तत्त्वज्ञान मिला, उस दिन हमारा वह सारा ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में परिणमित हो गया। यह सौभाग्य सबको

नहीं मिलता। यदि आपको भी रुचि जग गई तो सबकुछ ए. बी. सी. डी. से आरंभ करना होगा। छहढाला की क्लास में बैठना पड़ेगा।

देशनालब्धि पहले होती है अर्थात् गुरु के मुख से सुनकर, शास्त्र पढ़कर सात तत्त्व और भगवान आत्मा समझ में पहले आता है और आत्मा की अनुभूति बाद में होती है।

कानून बनने की एक प्रक्रिया है। पहले कानून के विशेषज्ञों से बिल बनवाया जाता है, फिर उसे प्रधानमंत्री केबिनेट में स्वीकृत कराता है। इसके बाद संसद में बहस होती है, बिल पास होता है। अन्त में उसे राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिये भेजा जाता है।

जब राष्ट्रपति उस बिल पर हस्ताक्षर कर देते हैं, तब वह बिल कानून बन जाता है। तात्पर्य यह है कि सारी प्रक्रिया प्रधानमंत्री सम्पन्न करता है; पर कानून राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से बनता है।

इसीप्रकार सात तत्त्वों को समझने की सारी प्रक्रिया ज्ञान में सम्पन्न होती है; परन्तु आत्मानुभूतिपूर्वक श्रद्धा की स्वीकृति बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

सभी निर्णय प्रधानमंत्री करते हैं, संसद करती है, महिनों तक बहस होती है, अखबारों में लेख छपते हैं – यह सब वर्षों तक चलता है और राष्ट्रपति पूर्णतः निर्विकल्प बने रहते हैं।

उसीप्रकार ज्ञान में संपूर्ण प्रक्रिया चलती रहती है। शास्त्रपठन, उपदेशश्रवण, तत्त्वमंथन, चिन्तन, चर्चा-वार्ता सबकुछ वर्षों तक चलता रहता है और राष्ट्रपति के समान श्रद्धा गुण पूर्णतः निर्विकल्प बना रहता है।

जब ज्ञान में पक्का निर्णय हो जाता है; तब आत्मानुभूतिपूर्वक श्रद्धा गुण पर में से अपनापन तोड़कर अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित कर लेता है और सम्यग्दर्शन हो जाता है; उसी समय ज्ञान भी सम्यग्ज्ञानरूप हो जाता है।

अब सम्यग्ज्ञान के भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हैं –

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और वह सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है – सुमति, सुश्रुत, सुअवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान।

प्रमाण परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का होता है।

उक्त पाँच ज्ञानों में सुमति और सुश्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं, सुअवधि और मन:पर्यय ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इनमें से मति और श्रुतज्ञान में इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं और अवधि व मन:पर्यय ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग के बिना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा में स्पष्ट रूप से जानते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों के अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्यायों को एक साथ अत्यन्त स्पष्ट रूप से केवलज्ञान जानता है।

जब केवलज्ञान में भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी पर्यायों को जान लिया जाता है – ऐसी स्थिति में यह भी सुनिश्चित मानना होगा कि कौनसी पर्याय किस समय होगी।

भूतकाल की पर्यायें तो हो चुकी हैं और वर्तमान की भी हो ही रही है; अत: उनके निश्चित मानने में तो कोई दिक्कत नहीं है; किन्तु भविष्य की पर्यायें तो अभी होना हैं; अत: उन्हें निश्चित मानने में ऐसा लगता है कि यदि भविष्य निश्चित है तो फिर हमारे हाथ में तो कुछ रहा ही नहीं।

अरे भाई ! आदिनाथ भगवान ने तो यह भी बता दिया था कि यह मारीच का जीव अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा। चौथा काल एक कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। मारीचि चौथे काल के प्रारम्भ में था और महावीर चौथे काल के अन्त में हुये हैं। इसप्रकार महावीर और मारीच के बीच एक कोड़ाकोड़ी सागर का अंतर है।

महावीर की माँ का नाम त्रिशला और पिता का नाम सिद्धार्थ होगा – आदिनाथ की दिव्यध्वनि में यह भी आ गया था।

इसका अर्थ यह हुआ कि त्रिशला की शादी राजा सिद्धार्थ से होगी – यह बात एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले ही निश्चित थी; अन्यथा आदिनाथ जानते कैसे ?

मान लो कि यह तो नक्की था कि सिद्धार्थ की शादी त्रिशला से होगी; पर किस दिन होगी – यह तो सिद्धार्थ के हाथ में ही होगा न। यदि वे चाहते कि मैं चार साल बाद शादी करूँगा तो ......।

अरे भाई ! भगवान महावीर का जीव सोलहवें स्वर्ग में था और उसकी आयु पूरी हो रही थी। यदि सिद्धार्थ सुनिश्चित समय पर शादी नहीं करते तो क्या होता ? उतने समय महावीर का जीव कहाँ रहता ? तात्पर्य यह है कि समय भी सुनिश्चित था और आदिनाथ के केवलज्ञान में जान लिया गया था। तात्पर्य यह है कि सबकुछ नक्की है।

इसप्रकार की अनेकानेक भविष्यवाणियों से प्रथमानुयोग भरा पड़ा है। भविष्य निश्चित नहीं मानने पर सर्वज्ञता तो संकट में पड़ ही जायेगी, प्रथमानुयोग पर भी प्रश्नचिह्न लग जायेगा।

हम यह तो सहजभाव से स्वीकार कर लेते हैं कि केवली भगवान भविष्य की सभी बातें जान लेते हैं, पर हमारा मन यह स्वीकार नहीं कर पाता कि भविष्य में होनेवाली घटनायें भी सुनिश्चित हैं; क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि सबकुछ नक्की है तो फिर हमने क्या किया। वस्तुतः बात यह है कि हम अपने कर्तृत्व के अभिमान को नहीं छोड़ना चाहते।

आत्मा के कल्याण में यह कर्तृत्व का अभिमान ही सबसे बड़ी बाधा है। न केवल जैनधर्म में, अपितु लगभग सभी दर्शनों में इस कर्तृत्व के अभिमान पर चोट की गई है।

हिन्दू कहते हैं कि राम की मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता, मुसलमानों के यहाँ भी खुदा की मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता और ईसाईयों के पत्ते गॉड हिलाता है।

सभी धर्म वाले यह तो कहते ही हैं कि तेरे हाथ में कुछ नहीं है।

'हुइये वही जो राम रचि राखा।' राम ने जो सोच रखा है, होगा तो वही। तेरे करने से कुछ नहीं होगा।

यह जो कर्तृत्व का अभिमान है, वह सबसे बड़ी समस्या है। सभी धर्मवाले इस अभिमान को तोड़ना चाहते हैं। हिन्दू धर्म में तो यहाँ तक आता है कि भगवान भक्त का सबकुछ बर्दाश्त कर सकते हैं, भक्त उनकी छाती पर लात मार दें तो भी बर्दाश्त कर सकते हैं; लेकिन भक्तों के कर्तृत्व का अभिमान बर्दाश्त नहीं कर सकते।

मेरी यह बात सुनकर एक लड़का बोला –

"आप कुछ भी कहो, पर हम तो लड़की को अच्छी तरह देखे बिना शादी नहीं करेंगे। जब हम दस रुपये की हाँडी खरीदते हैं तो ठोक-बजाकर लेते हैं; यह तो जिन्दगी भर का सौदा है।"

मैंने प्रेम से समझाते हुए उससे कहा –

"क्या माँ-बाप का संबंध जिन्दगी भर का नहीं है। यदि है तो तुमने यह काली-कलूटी माँ कैसे पसन्द कर ली ?"

तब वह कहता है – "इसमें मेरी क्या गलती है ? यह तो पापा की गलती है।" मैंने कहा – "यह गलती पापा की ही सही, पर तू बाल-बच्चे तो एक से एक बढ़िया चुन-चुनकर पैदा करना।"

"वे भी जैसे होंगे, हो जायेंगे; उसमें भी मैं क्या कर सकता हूँ ?"

"माँ-बाप, भाई-बहन, बेटा-बेटी जैसे मिल जायें, चलते हैं; पर एक पत्नी ही ऐसी है कि जिसमें तू अपनी पूरी अक्ल लगा लेगा।"

बात को आगे बढ़ाते हुये मैंने कहा – "जाओ बेटा ! देख आओ। मात्र देखना, ठोकना-बजाना नहीं; नहीं तो ठुक-पिटकर आओगे। अपनी पत्नी की तुलना दस रुपये की हांडी से करते हो, शरम नहीं आती।

जिन्होंने शादी होने के पहिले पत्नी को देखा भी नहीं था, ऐसे भी लोग अभी जिंदा हैं। उनकी जिंदगी बहुत शान्ति से निकल गई; पर ठोंक-बजाकर देखनेवालों की जिंदगी दो-चार साल भी नहीं चल

पाती है और तलाक का नम्बर आ जाता है। तुम चाहे जितनी अकल लगा लेना; पर मिलेगी तो वही, जो पहले से सुनिश्चित है।''

सर्वज्ञता के साथ क्रमबद्धपर्याय पूरी तरह गुथी हुई है। यदि हम पर्यायों के सुनिश्चित क्रम अर्थात् क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार नहीं करेंगे तो अरहंत और सिद्ध भगवान की सर्वज्ञता पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा हो जायेगा।

उक्त सन्दर्भ में विशेष जानने की इच्छा हो तो लेखक की अन्य कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का स्वाध्याय करना चाहिये।

इसके बाद सम्यग्ज्ञान की महिमा बताते हुये कहा है –

ज्ञान समान न आन जगत में, सुख को कारन।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण॥

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं टरैं ते॥
मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

इस जगत में ज्ञान के समान अन्य कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है। यह ज्ञान जन्म, जरा और मृत्युरूपी रोग निवारण करने के लिये परम अमृत है।

आत्मज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों में निरन्तर तप करते रहने पर जितने कर्म झड़ते हैं; उतने कर्मों को ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति के बल से क्षणभर में नष्ट कर देते हैं। यद्यपि यह आत्मा मुनिव्रत धारण करके अनन्त बार अन्तिम ग्रैवेयक तक में उत्पन्न हुआ, तथापि आत्मज्ञान के बिना रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं किया।

वैमानिक देवों के रहने के स्थानों में सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक होते हैं। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराज अधिक से अधिक वहाँ तक ही जाते हैं; उसके आगे नहीं।

इसके बाद आत्महित कर लेने की प्रेरणा देते हुये लिखते हैं –

तातैं जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपौ लख लीजै।।
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवौ जिनवाणी।
इह विधि गये न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी।।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।।
तास ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानो।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनो।।

इसलिये जिनेन्द्रदेव द्वारा बताये गये तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का अभ्यास निरन्तर करना चाहिये और संशय, विभ्रम और मोह का त्याग करके अपने आत्मा का अनुभव कर लेना चाहिये।

कवि **करीजे** और **लीजे** कहकर एक प्रकार से आदेश ही दे रहे हैं।

विभ्रम को विपर्यय और मोह को अनध्यवसाय भी कहते हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञान के दोष माने गये हैं।

आत्मा की सत्ता (अस्तित्व) में या स्वरूप में संशय होना संशय नामक दोष है। 'आत्मा है या नहीं' – यह आत्मा के अस्तित्व (सत्ता) के बारे में शंका है और 'आत्मा मात्र ज्ञानस्वभावी ही है अथवा राग-द्वेष-मोहवाला भी है' – यह स्वरूप के संबंध में शंका है।

आत्मा के अस्तित्व और स्वरूपादि के बारे में एकदम उल्टा निर्णय कर लेना विपर्यय नामक दोष है। 'आत्मा है ही नहीं' या 'आत्मा राग-द्वेष वाला ही है' – ऐसा निश्चय कर लेना विपर्यय नामक दोष है।

आत्मा के सम्बन्ध में उपेक्षाभाव अनध्यवसाय है। 'आत्मा होगा तो होगा और नहीं होगा तो नहीं होगा; अथवा जैसा भी होगा – हमें क्या करना है, इस व्यर्थ की माथापच्ची से हमें क्या लेना-देना है ? – इसप्रकार का उपेक्षा भाव अनध्यवसाय है।

आत्मा के सन्दर्भ में उक्त दोषों से रहित आत्मानुभूतिपूर्वक सम्यक् निर्णय होना ही सम्यग्ज्ञान है।

अन्त में कहते हैं कि हे भाई ! दुर्लभ मनुष्यपर्याय, सदाचार सम्पन्न उच्च कुल और जिनवाणी सुनने को मिलना, रुचिपूर्वक पढ़ना-सुनना – यह सब अभी तुझे सहज संयोग से प्राप्त हो गया है; अतः सहज प्राप्त संयोग को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त किये बिना यों ही गवाँ देना समझदारी का काम नहीं है; क्योंकि यह सब एक बार गया सो गया, फिर मिलना सागर में फेके चिन्तामणि रत्न के समान अत्यन्त दुर्लभ है।

ये हाथी-घोड़े, धन-संपत्ति, समाज और राज कुछ काम आनेवाले नहीं हैं। यदि तुमने सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया, केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तो वह सदा ही अचल रहेगा, कभी भी चलायमान नहीं होगा।

उस सम्यग्ज्ञान या केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय स्व और पर में भेद जानना है, अपने और पराये की पहिचान करना कहा गया है।

इसलिए हे भव्यजीवो ! करोड़ों उपाय करके भी उस भेदविज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करने की बात हृदय में ठान लो।

उक्त भेदज्ञान की महिमा बताते हुये आगे कहते हैं –

जे पूरब शिव गये, जाहिं अरु आगे जेहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं।।
विषय चाह दव दाह, जगत जन अरनि दझावै।
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै।।

पुण्य-पाप फल माहिं, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।।
लाख बात की बात, यहै निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, निज आतम ध्याओ।।

जो जीव भूतकाल में मोक्ष गये हैं, अभी जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे; वे सब भेदविज्ञान या सम्यग्ज्ञान के प्रताप से ही गये हैं। यह सब

ज्ञान की ही महिमा है – ऐसा मुनियों के नाथ अरहंत भगवान कहते हैं।

पंचेन्द्रिय विषयों की चाहरूपी दावाग्नि से जगतजनरूपी जंगल जल रहा है; उस भयंकर अग्नि को ज्ञानरूपी मेघों की वर्षा ही बुझा सकती है।

अरे भाई ! पुण्य के फल में प्रसन्न होना और पाप के फल में बिलखना छोड़ो; क्योंकि यह सब तो पुद्गल का परिणमन है, जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता है और फिर उत्पन्न हो जाता है।

लाख बात की एक बात तो यह है कि निश्चयनय द्वारा निरूपित आत्मा में अपनापन स्थापित करो और इस जगत के सम्पूर्ण दन्द-फन्दों को छोड़कर निज आत्मा का ध्यान धरो।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की आत्मख्याति टीका में समागत कलश में लिखते हैं –

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा: ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥[1]

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की॥
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं॥१३१॥

आजतक जितने सिद्ध हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं; वे सब उस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

ज़िसप्रकार जंगल में लगी दावाग्नि सम्पूर्ण जंगल को जला देती है, उसे बुझाने में मेघों की मूसलाधार बरसात के बिना कोई समर्थ नहीं होता; उसीप्रकार पंचेन्द्रियों के विषयों की चाह एक ऐसी आग है कि

१. समयसार आत्मख्याति टीका, कलश क्रमांक : १३१

जो आत्मा के अनन्त दु:खों का एकमात्र कारण है और जिसे ज्ञानरूपी मेघों की वर्षा के अतिरिक्त कोई नहीं बुझा सकता।

इसलिये हे भाई ! पुण्य के फल में प्राप्त होनेवाले अनुकूल पंचेन्द्रिय विषयों को पाकर हर्षित होना और पाप के फल में प्राप्त होनेवाले प्रतिकूल संयोगों में बिलख-बिलखकर रोना धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि का काम नहीं है; क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल संयोग तो पौद्गलिक पर्यायें हैं, जो आती-जाती रहती हैं; इनसे हमारा कोई बिगाड़-सुधार नहीं है।

लाख बात की बात तो यह है कि इन संयोगों पर से उपयोग को हटाकर निश्चय के विषयभूत आत्मा को अपने हृदय में स्थापित करो और जगत के सभी मानसिक द्वन्दों और शारीरिक फंदों को छोड़कर अपने आत्मा का ध्यान करो।

हम तो दुनियादारी के कार्यों को ही दंद-फंद समझते हैं; किन्तु यहाँ यह कहा जा रहा है कि अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान विना जो कुछ भी करोगे, वह सब दंद-फंद ही है। तात्पर्य यह है कि शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग के अतिरिक्त जितना भी क्रियाकाण्ड और शुभभावरूप आचरण है, वह सभी दंद-फंद ही है। इसमें पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि सभी क्रियाकाण्ड और तत्संबंधी शुभभाव भी आ जाते हैं।

ध्यान रहे, यहाँ धर्म के नाम पर होनेवाले समस्त बाह्याचरण का निषेध किया जा रहा है; एकमात्र आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मध्यान को ही धर्म बताया जा रहा है।

सम्यग्ज्ञान की महिमा बताने के उपरान्त अब सम्यक्चारित्र की बात करते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेवाला चारित्र दो प्रकार का होता है – एकदेशचारित्र और सकलदेशचारित्र।

एकदेशचारित्र में हिंसादि पापों का एकदेश त्याग और अहिंसादि व्रतों का एकदेश पालन होता है और सकल देशचारित्र में हिंसादि पापों का पूर्णत: त्याग और अहिंसादि व्रतों का पूर्णत: पालन होता है।

यही कारण है कि एकदेशचारित्र में होनेवाले व्रतों को अणुव्रत और सकलदेशचारित्र में होनेवाले व्रतों को महाव्रत कहा जाता है।

एकदेशचारित्र पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती श्रावकों के होता है और सकलदेशचारित्र मुनिराजों के होता है।

अब इस ढाल में मात्र एकदेशचारित्र की चर्चा होगी। सकलचारित्र की चर्चा छटवीं ढाल में की जायेगी।

ध्यान रहे, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकों के व्रत बारह प्रकार के होते हैं; जिनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं।

अब सबसे पहले पाँच अणुव्रतों की बात करते हैं –

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि, दृढ़ चारित लीजै।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।।
त्रसहिंसा को त्याग, वृथा थावर न संघारै।
पर-वधकार कठोर निंद्य, नहिं वयन उचारै।।
जल मृत्तिका बिन और, नाहिं कछु गहै अदत्ता।
निज वनिता बिन सकल, नारि सौं रहै विरत्ता।।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै।

इसकी पहली ही पंक्ति में कवि यह कह रहा है कि पहले सम्यग्ज्ञानी होओ; उसके बाद चारित्र धारण करने की बात करना। चूँकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ पैदा होते हैं; इसलिए न केवल सम्यग्ज्ञानी, साथ में सम्यग्दृष्टि होने की भी बात है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी होकर ही चारित्र धारण किया जाता है – यहाँ एक बात यह कही और दूसरी बात यह है कि चारित्र को धारण करो तो दृढ़ता से करो, दृढ़ चारित्र धारण करो, यों ही ढुलमुल व्रतों को ले लेना और उन्हें जैसे-तैसे ढोते रहने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

यह तो पहले कह ही चुके हैं कि वह चारित्र दो प्रकार का होता है।
१. एकदेशचारित्र और २. सकलदेशचारित्र।

अब यहाँ एकदेशचारित्र की बात आरंभ करते हैं। उसमें सबसे पहले पाँच अणुव्रतों की चर्चा आती है।

त्रसहिंसा को तो पूर्णतः त्याग दे और बिना प्रयोजन स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करें – यह अहिंसाणुव्रत है, दूसरे के जीवन को खतरे में डालनेवाले कठोर और निंदनीय वचन नहीं बोलना सत्याणुव्रत है, जल और मिट्टी को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु को बिना दिये नहीं लेना अचौर्याणुव्रत है, धर्मानुकूल विवाहित अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों से विरक्त रहना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और अपनी शक्ति के अनुसार सीमित परिग्रह रखना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक त्रसहिंसा का त्यागी होने पर भी स्थावर जीवों के घात से पूर्णतः नहीं बच पाता है; क्योंकि घर बनाना, व्यापार करना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनमें पृथ्वीकायिक जीवों का घात होता है; नहाना-धोना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनमें जलकायिक जीवों का घात होता है; रोटी बनाना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनमें अग्निकायिक जीवों का घात होता है; पंखा चलाना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनमें वायुवायिक जीवों का घात होता है और साग-सब्जी आदि का उपयोग ऐसा कार्य है, जिसमें वनस्पतिकायिक जीवों का घात होता है। यही कारण है कि यहाँ इनका विना प्रयोजन घात नहीं करने की बात कही गई है।

'वृथा थावर न संहारे' – यह कहकर उक्त सम्पूर्ण कथन को दौलतरामजी ने एक पंक्ति में समेट दिया है। इसीप्रकार सत्यादि व्रतों को भी एक-एक पंक्ति में ही प्रस्तुत कर दिया है।

जो क्रियायें अणुव्रतों में गुण पैदा करें, उन्हें गुणव्रत कहते हैं। ये गुणव्रत तीन प्रकार के होते हैं; जो इसप्रकार हैं – दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत।

इनकी चर्चा करते हुये दौलतरामजी लिखते हैं –

दश दिशि गमन प्रमान ठान, तसु सीम न नाखै।।

ताहू में फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमान, ठान अन सकल निवारा।।
काहू की धन-हानि, किसी जय-हार न चिन्तैं।
देय न सो उपदेश, होय अघ वनज कृषी तैं।।

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै।
असि धनु हल हिंसोपकरन, नहिं दे यश लाधै।।
राग-द्वेष करतार कथा, कबहूँ न सुनीजै।
औरहु अनरथ दंड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजै।।

दशों दिशाओं में जीवनपर्यंत के लिये गमनागमन का परिमाण सुनिश्चित कर लेना और उस की गई सीमा का उल्लंघन नहीं करना दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है। दिग्व्रत में की गई मर्यादा में समय सीमा को कम करके गाँव, गली, घर, बाग, बजार आदि की मर्यादा बाँधकर गमनागमन का परिमाण सुनिश्चित कर लेना और उतने समय उक्त सीमा के बाहर नहीं जाना देशव्रत है।

व्रती श्रावक किसी की धनहानि और किसी की जीत-हार के बारे में चिन्तवन न करे; जिसमें अधिक हिंसादि पाप हों, ऐसे व्यापार और कृषि आदि करने का उपदेश न दे; प्रमाद के वश होकर बिना प्रयोजन भूमि, जल, अग्नि, वायु और वृक्षों की विराधना नहीं करे; हिंसा के उपकरण तलवार, धनुष, हल देकर यश कमाने की कोशिश नहीं करे; जो कथायें या चर्चा-वार्ता राग-द्वेष को प्रोत्साहन देनेवाली हो, उन कथाओं की चर्चा-वार्ता कभी भी नहीं करे। इनके अतिरिक्त बिना प्रयोजन और भी पाप नहीं करे। यह अनर्थदण्डव्रत है।

दश दिशाओं की जीवनपर्यंत के लिए मर्यादा निश्चित कर लेना और उस सीमा के बाहर कभी नहीं जाना दिग्व्रत है। चार दिशायें, चार विदिशायें और ऊपर व नीचे – ये दस दिशायें हैं।

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में कन्याकुमारी, पूर्व में मणिपुर और पश्चिम में द्वारिका आदि दशों दिशाओं की मर्यादा सुनिश्चित कर लेना और उसके आगे जीवनपर्यन्त नहीं जाना दिग्व्रत है। जीवनपर्यंत के लिये की गई दिग्व्रत की मर्यादा में काल की सीमा बाँधकर दस दिशाओं में क्षेत्र को और अधिक सीमित करते जाना देशव्रत है।

दिग्व्रत में सम्पूर्ण भारतवर्ष के बाहर न जाने की प्रतिज्ञा जीवनपर्यंत के लिये की थी; अब देशव्रत में एक वर्ष तक राजस्थान के बाहर नहीं जाऊँगा, एक माह तक जयपुर जिले के बाहर नहीं जाऊँगा, एक दिन तक अपने मुहल्ला के बाहर नहीं जाऊँगा और एक घंटे तक मंदिर के बाहर नहीं जाऊँगा – इसप्रकार मर्यादा को घटाते जाना देशव्रत है।

दिग्व्रत और देशव्रत लेने का प्रयोजन यह है कि इसकी मर्यादा के बाहर होनेवाले पाँच पापों में हमारी भागीदारी नहीं होगी तो हमारे ये अणुव्रत सीमा के बाहर महाव्रत जैसे हो जायेंगे; पर ध्यान रहे इसके कारण हम महाव्रती नहीं हो सकते; क्योंकि महाव्रती होने के लिये प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होना जरूरी है; जो गृहस्थ अवस्था में संभव नहीं है।

तीसरा गुणव्रत है अनर्थदण्डव्रत। अर्थ माने प्रयोजन और अनर्थ माने बिना प्रयोजन। दण्ड माने हिंसादि पाँच पाप। व्रत माने त्याग। इसप्रकार अनर्थदण्डव्रत का अर्थ हुआ बिना प्रयोजन पाँच पापों का त्याग।

ये अनर्थदण्डव्रत पाँच प्रकार के होते हैं – १. अपध्यान, २. पापोपदेश, ३. प्रमादचर्या, ४. हिंसादान और ५. दुःश्रुति।

किसी की धनहानि, किसी की जीत, किसी की हार हो जावे – इसप्रकार चिन्तन अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है और इसका त्याग करना अपध्यानत्याग नामक अनर्थदण्डव्रत है।

ऐसे व्यापार और कृषि आदि कार्य, जिनके करने में बहुत हिंसादि पाप उत्पन्न होते हैं; उन्हें करने के लिए उपदेश देकर प्रेरित करना पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है और इसका त्याग पापोपदेशत्याग नामक अनर्थदण्डव्रत है।

प्रमाद के वश होकर भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप एकेन्द्रिय जीवों की विराधना करना प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है और इनकी विराधना नहीं करने का व्रत लेना प्रमाचर्या नामक अनर्थदण्डव्रत है।

जो वस्तुयें हिंसादि पापों में ही काम आती हों, उन वस्तुओं का दान देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है और उन वस्तुओं का दान नहीं करने का व्रत लेना हिंसादान नामक अनर्थदण्डव्रत है।

जिस कथा-वार्ता में, चर्चा में राग-द्वेष पैदा होते हों; उनकी चर्चा करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है और इसप्रकार की कथा, चर्चा-वार्ता नहीं करने का व्रत लेना दुःश्रुतित्याग नामक अनर्थदण्डव्रत है।

अब संक्षेप में चार शिक्षाव्रतों की चर्चा करते हैं –

धर उर समता भाव, सदा सामायिक करिये।
परव चतुष्टय माहिं, पाप तज प्रोषध धरिये।।
भोग और उपभोग, नियम करि ममत निवारै।
मुनि को भोजन देय, फेर निज करहिं अहारै।।

हृदय में समताभाव धारण करके सदा सामायिक करे, दो अष्टमी और दो चतुर्दशी – इसप्रकार चार पर्वों में पापों को छोड़कर प्रोषधोपवास करे, एक बार भोगने में आनेवाले भोग और बारंबार भोगने में आनेवाले उपभोग पदार्थों की सीमा बाँधकर उनसे ममत्व का निवारण करे और मुनिराजों को आहार देकर फिर स्वयं आहार करे – ये चार शिक्षाव्रत हैं।

इन चार शिक्षाव्रतों के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं – १. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभाग।

आत्मचिन्तन और आत्मध्यानरूप होने से सामायिक तो सर्वोत्कृष्ट धर्म है। इसी सामायिक व्रत की साधना के लिये प्रोषधोपवास किया जाता है। जिन अहिंसक भोगोपभोग की वस्तुओं का त्याग नहीं है; उनमें भी सीमा तो सुनिश्चित करना ही चाहिये; क्योंकि उनका भी असीम भोग तो उचित नहीं है।

अतिथि कहते ही उसे हैं, जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो। मुख्यरूप से महाव्रती मुनिराज ही वास्तविक अतिथि हैं, अणुव्रती श्रावक भी इनमें ही आते हैं। तो शुद्ध-सात्त्विक भोगोपभोग सामग्री हमने अपने लिए संग्रहीत की है, बनाई है; उसमें से ही एक सुनिश्चित भाग अतिथियों को देना अतिथिसंविभागव्रत है।

ये व्रत मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा देते हैं; इसलिए शिक्षाव्रत हैं।

अन्त में इन व्रतों का फल बताते हुये कहते हैं –

बारह व्रत के अतिचार, पन पन न लगावै।
मरण समय संन्यास धारि, तसु दोष नशावै॥
यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहँ तैं चय नर जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै॥

उक्त बारह व्रतों में प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं; उन्हें भी न लगने दे और मृत्यु का समय नजदीक आने पर संन्यास (समाधिमरण-सल्लेखना) धारण करके उस संन्यासव्रत का भी निरतिचार पालन करे। इसप्रकार व्रती श्रावक इन बारह व्रतों का पालन करके सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँ से चयकर मनुष्य भव पाकर, मुनि होकर मोक्ष चला जाता है। ●

पाँचवाँ प्रवचन

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और एकदेशचारित्र की चर्चा हो चुकी है। अब सकलचारित्र के विवेचन के पहले बारह भावनाओं की चर्चा करते हैं; क्योंकि जब भी कोई व्यक्ति सकलचारित्र (मुनिधर्म) को धारण करता है, तब उसके पूर्व बारह भावनाओं का चिन्तन अवश्य करता है।

यही कारण है कि दौलतरामजी ने छहढाला में मुनिधर्म की चर्चा करने के पूर्व और देशचारित्र की चर्चा के उपरान्त बारह भावनायें रखी हैं। गृहस्थ और सन्त – दोनों ही बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं, मध्यदीपक के रूप में एक कारण यह भी हो सकता है।

पण्डित दौलतरामजी पाँचवीं ढाल के पहले ही छन्द में लिखते हैं कि वे मुनिराज बड़े ही भाग्यवान हैं; जो सांसारिक भोगों से विरक्त हैं और जो वैराग्य की उत्पत्ति के लिये बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं।

देखो, यहाँ सर्वाधिक विभूतिवाले चक्रवर्तियों को भाग्यवान नहीं कहा, अपितु सबकुछ छोड़ देनेवाले सन्तों को भाग्यवान कहा है। यह इस बात का प्रमाण है जोड़नेवाले से छोड़नेवाला महान होता है।

मुनिराज वैराग्य की उत्पत्ति के लिये बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं; इसका अर्थ यह हुआ कि वह चिन्तवन ही बारह भावनाओं का चिन्तवन है कि जिससे वैराग्य की उत्पत्ति हो। अगली ही पंक्ति में वे लिखते हैं कि जिसप्रकार हवा के लगने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है;

उसीप्रकार इन बारह भावनाओं के चिन्तन से समतारूपी सुख जागृत हो जाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इन बारह भावनाओं को आनन्द-जननी कहा गया है। इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि जो चिन्तन वैराग्य-वर्धक हो, आनन्द-जनक हो; वही चिन्तन बारह भावनाओं की श्रेणी में आता है। जिस चिन्तन से भय जागृत हो, आकुलता उत्पन्न हो; वह चिन्तन और चाहे जो कुछ हो, पर बारह भावना (अनुप्रेक्षा) तो कदापि नहीं।

उक्त सन्दर्भ में मैं कविवर पण्डित भूधरदासजी द्वारा लिखित सर्वाधिक प्रचलित बारह भावनाओं में से अनित्य और अशरण भावना सम्बन्धी छन्दों को प्रस्तुत करना चाहता हूँ; जो इसप्रकार हैं –

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार।।
दल-बल देवी-देवता, मात-पिता परिवार।
मरती विरिया जीव को कोई न राखनहार।।

उक्त दोनों भावनाओं में मृत्यु की चर्चा है। कहा गया है कि एक न एक दिन सभी को मरना होगा और हजार प्रयत्न करने पर भी कोई बचा नहीं पायेगा।

इसप्रकार 'मरना होगा' – यह अनित्य भावना हुई और 'कोई बचा नहीं पायेगा' – यह अशरण भावना हुई।

यदि यह पढ़ते-पढ़ते हमारे दिल में घबराहट होती है तो समझ लेना चाहिये कि यह अनित्य और अशरण भावना का चिन्तन नहीं है; क्योंकि अनित्य और अशरण भावना के चिन्तन से तो आनन्द की उत्पत्ति होना चाहिये, वैराग्य की उत्पत्ति होना चाहिये; पर हमें आनन्द और वैराग्य न होकर घबराहट होती हैं।

यद्यपि इसमें एक दिन शब्द लिखा है; तथापि क्या हम सबको एक

ही दिन साथ-साथ ही मरना है ? नहीं, कदापि नहीं। एक दिन का वास्तविक अर्थ एक न होकर एक न एक दिन है। एक न एक दिन अर्थात् कभी न कभी हम सबको मरना ही होगा।

अरे भाई ! 'कभी न कभी' तो ठीक है, पर आखिर कब ?

इस प्रश्न के उत्तर में लिखा गया है कि **अपनी-अपनी बार**। तात्पर्य यह है कि जब आपका नम्बर आयेगा, तब। इसका तो सीधा-सा अर्थ यह है कि सभी का नम्बर लगा है, मरने का समय सुनिश्चित है।

यदि बात यह है तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि दुनिया की कोई शक्ति हमें समय से पहले नहीं मार सकती। इसप्रकार यह बात मृत्यु का सन्देश नहीं, जीवन की गारंटी है।

जब हमें इस भावना के चिन्तन में मृत्यु का संदेश नहीं, जीवन की गारंटी दिखाई देगी तो फिर घबराहट क्यों होगी ? फिर तो परम सन्तोष होगा।

अभी तक तो इसे यह चिन्ता थी कि मुझे कोई मार न दे; पर उक्त चिन्तन के आधार पर जब उक्त चिन्ता कुछ कम होती है तो यह सोचने लगता है कि समय के पहले तो मैं नहीं मरूँगा; परन्तु क्या यह नहीं हो सकता है कि समय आने पर भी मेरा मरण न हो ? तदर्थ अनेक उपाय करने लगता है।

उक्त मनस्थिति से उबरने के लिये अशरण भावना में कहा गया है कि –

मरती विरियाँ जीव को कोई न राखनहार।

तात्पर्य यह है कि जब मृत्यु का समय आ जायेगा, तब दुनिया की कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती। अतः इस दिशा में सक्रिय में होने से कोई लाभ नहीं।

'समय के पहले हमें कोई मार न दे' – इस भय से हमने सुरक्षा के

बड़े-बड़े इन्तजाम किये हैं। किले-कोट की बात तो बहुत पुरानी हो गई; अब तो हम परमाणु हथियारों से सुसज्जित हैं और इस दिशा में प्रयत्नशील हैं कि हमें समय आने पर भी न मरना पड़े।

'समय के पहले कोई मार न दे' – इसके लिए हमने बन्दूक की गोलियाँ बनाईं और 'समय आने पर भी न मर जाये' – इसके लिए जीवनरक्षक (एन्टीबायोटिक) गोलियाँ बनाईं। इसप्रकार रक्षा के नाम पर मारक सामग्री का ही निर्माण किया है। यदि परमाणु हथियार प्राणिजगत का सर्वविनाश करनेवाले हैं तो ये जीवनरक्षक दवायें भी कीटाणुजगत की नाशक हैं। कैसा विचित्र संयोग है कि अमर होने के लिये मारने की व्यवस्था, क्या इसी का नाम सुरक्षा है?

जब अनित्य और अशरण भावना के चिन्तन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि न तो समय के पहले कोई हमें मार ही सकता है और न समय आने पर कोई बचा ही सकता है; तब हमें न तो कोई भय का कारण रह जाता है और न स्वसमय में होनेवाले मरण से बचने के लिए कुछ करने को ही रह जाता है; फिर चिन्ता किस बात की ?

इसप्रकार ये दोनों भावनायें मरणभय पैदा करनेवाली नहीं, मरणभय को दूर करनेवाली भावनायें हैं।

इस छहढाला में भी कहा है कि –

जोबन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई।।

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र-तन्त्र बहु होई, मरतैं न बचावे कोई।।

जवानी, घर, गाय-भैंस आदि गोधन, स्त्री, हाथी-घोड़ा, आज्ञाकारी

सेवकजन और इन्द्रियों की भोगसामग्री – इन्द्रधनुष और आकाश में चमकनेवाली बिजली के समान क्षणभंगुर हैं।

जिसप्रकार भयंकर वन में सिंह पशुओं को मार डालता है; उसीप्रकार जितने भी देव, दानव और विद्याधरों के राजा हैं; वे सब कालरूपी यमराज से दले जाते हैं, मसले जाते हैं, मार दिये जाते हैं। इस जगत में चिन्तामणि रत्न, मन्त्र-तन्त्र बहुत हैं; पर मरने से कोई नहीं बचा सकता।

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से नित्य है तो पर्याय से क्षणभंगुर (अनित्य) भी है। यदि मूल वस्तु कभी नहीं बदलती है तो सदा एकसी भी नहीं रहती। न बदलकर भी बदलती है और बदलकर भी नहीं बदलती।

इसीप्रकार यह आत्मा मरकर भी अमर है और अमर होकर भी मरणशील है। कभी न बदलने के समान निरन्तर बदलते रहना भी इसका स्वभाव है।

अरे भाई ! यह निरन्तर बदलते रहने वाला स्वभाव भी हमारे हित में ही है; क्योंकि यदि हम बदलेंगे नहीं तो फिर मोक्ष में कैसे जायेंगे ? यदि हम मरेंगे नहीं तो इस सड़ी-गली देह से छुटकारा कैसे मिलेगा ?

यदि हम इसी पर्याय में जमे रहेंगे तो हमें नई पर्याय कैसे मिलेगी और हमारी आगामी पीढ़ी भी कैसे आयेगी ?

अतः हमें 'समय पर जन्मना और समय पर मरना' – इस परम सत्य को सच्चे दिल से स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वभाव है। जो स्वभाव हो, वह दुःखरूप या दुःखकर कैसे हो सकता है ?

मैंने बहुत पहिले लिखा था कि –

जब अनित्यता वस्तुधर्म तब क्यों कर दुखकर हो सकती।
जब स्वभाव ही दुखमय तो सुखमयी कौनसी हो शक्ति।।

हम निशदिन मरते रहते हैं।
दिनरात गुजरते रहते हैं, हम निशदिन मरते रहते हैं।
उत्पाद-नाश जब एक वस्तु तब क्योंकर मृत्यु से डरना;
अरे जन्म से खुशी और यह मृत्यु देखकर रो पड़ना।।
यह परम सत्य स्वीकार नहीं, हम किस विचार में रहते हैं;
दिन-रात गुजरते रहते हैं, हम निशदिन मरते रहते हैं।।

कुछ लोग कहते हैं कि बार-बार मृत्यु की चर्चा करके हमारा यह सुखमय जीवन क्यों खराब कर रहे हैं। अरे भाई ! जब मरेंगे, तब मर जायेंगे; अभी तो मौजमस्ती से रहने दो, प्राप्त सुखों को शांति से भोगने दो।

उनसे कहते हैं कि भाई ! इस असार संसार में सुख है ही कहाँ ? यहाँ तो दुःख ही दुःख है, रंचमात्र भी सुख नहीं है। यह बात तो पहली ढाल में ही स्पष्ट कर आये हैं।

संसार भावना की चर्चा करते हुये इस छहढाला में भी यही कहा है –

चहुँगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार-असारा, यामैं सुख नाहिं लगारा।।

चारों गतियों में सर्वत्र दुःखी जीव ही भरे हुये हैं, जो निरन्तर पंच परावर्तन कर रहे हैं। यह संसार सम्पूर्णतः असार है; इसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है।

कविवर पण्डित भूधरदासजी ने भी संसार भावना में यही कहा है, जो इसप्रकार है –

दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कबहु न सुख संसार में सब जग देख्यो छान।।

गरीब पैसों के बिना दुःखी है और धनवान तृष्णा के वश होकर दुःखी हो रहे हैं। हमने सारे संसार को छान मारा है; इसमें कहीं भी सुख दिखाई नहीं देता।

कविवर पण्डित भूधरदासजी द्वारा रचित वैराग्यभावना में संसार की स्थिति का जो चित्रण किया गया है; वह इसप्रकार है –

सुरगति में परसम्पति देखे राग-उदय दुख होई।
मानुष योनि अनेक विपतिमय सर्वसुखी नहिं कोई।।
कोई इष्ट-वियोगी बिलखै कोई अनिष्ट-संयोगी।
कोई दीन दरिद्री बिगूचे, कोई तन के रोगी।।
किस ही घर कलिहारी नारी कै बैरी सम भाई।
किस ही के दुख बाहिर दीखै किस ही उर दुचिताई।।
कोई पुत्र बिना नित झूरै होय मरै तब रोवै।
खोटी संतति सों दुख उपजै क्यों प्राणी सुख सोवै?
पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख साता।
यह जगवास जथारथ देखे सब दीखै दुखदाता।।
जो संसार विषै सुख हो तौ तीर्थंकर क्यों त्यागें?
काहे को शिव-साधन करते संजम सौं अनुरागैं?

राग के उदय से देवगति में दूसरों की सम्पत्ति को देख-देखकर दु:ख होता है और मनुष्ययोनि में भी अनेक विपत्तियाँ हैं। यहाँ पूर्णत: सुखी कोई नहीं है।

कोई इष्ट के वियोग में बिलख-बिलखकर रो रहा है तो कोई अनिष्ट के संयोग से दु:खी है। कोई दीन-दरिद्री होने से दु:खी है तो किसी का शरीर रोगग्रस्त है।

किसी के घर में नित्य कलह करनेवाली पत्नी है तो किसी के घर में शत्रु के समान व्यवहार करनेवाला भाई है। किसी-किसी के दु:ख बाहर से दिखाई देते हैं तो किसी के हृदय में अनेक प्रकार की दुश्चिन्तायें लगी हुई हैं।

कोई व्यक्ति पुत्र नहीं होने से दु:खी है, निरन्तर झूरता रहता है; किसी का पुत्र होने पर भी मर जाने से वह रो रहा है और किसी के संतान

है तो पर खोटी है, इसलिये दुःखी है। ऐसी स्थिति में यह प्राणी सुख की नींद कैसे सो सकता है ?

जिनके पुण्य का उदय है, उनको भी सदा सुख नहीं है। इस जगत को यथार्थ रूप से देखें तो सभी दुःख देनेवाले ही दिखाई देते हैं।

अरे भाई ! जरा विचार तो करो कि यदि इस चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार में सुख होता तो तीर्थंकर जैसे पुण्यवंत महापुरुष इसे छोड़कर क्यों चले जाते, संयम धारण कर मुक्ति प्राप्त करने का पुरुषार्थ क्यों करते?

संयोगों में सुख खोजना समय और शक्ति का अपव्यय है। जिसप्रकार कितना ही मंथन क्यों न करो, पानी में से नवनीत निकलना सम्भव नहीं है; कितना ही पेलो, बालू में से तेल निकलना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति के लिये संयोगों की शोध-खोज में किये गये सम्पूर्ण प्रयत्न निरर्थक ही हैं, उनसे सुख की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है।

सुख की प्राप्ति के लिये तो सुख के सागर निजस्वभाव की शोध-खोज आवश्यक है, निजस्वभाव का आश्रय आवश्यक है; उसी का ज्ञान-श्रद्धान आवश्यक है, ध्यान आवश्यक है।

– इसप्रकार का चिन्तन ही संसारभावना का मूल है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता और संसारभावना में संयोगों की असारता का, निरर्थकता का चिन्तन किया जाता है और संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभावसन्मुख होने का प्रयास किया जाता है।

इस पर कोई कहता है कि संसार में दुःख ही दुःख है तो कोई बात नहीं है; क्योंकि हम अकेले थोड़े ही हैं, मिलजुलकर सबकुछ भोग लेंगे।

उनसे आगे एकत्व और अन्यत्व भावना में कहते हैं कि इस लोक में मिलजुलकर भोगने की कोई व्यवस्था नहीं है; प्रत्येक प्राणी को

स्वयंकृत कर्मों का फल अकेले ही भोगना होगा। जैसा कि कहा है –

शुभ-अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक हि ते ते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी।।

जल-पय ज्यौं जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा।।

शुभ और अशुभ कर्मों के जितने भी फल प्राप्त होते हैं; उन सभी को जीव स्वयं अकेले ही भोगता है। उक्त फल भोगने में स्त्री-पुत्रादि साथी नहीं हैं; क्योंकि सभी लोग स्वार्थ के साथी हैं।

यद्यपि जिसप्रकार दूध और पानी का मिलाप होता है, उसीप्रकार का मिलाप जीव और शरीर का है; तथापि जिसप्रकार दूध और पानी भिन्न-भिन्न ही हैं, उसीप्रकार शरीर और जीव भी भिन्न-भिन्न ही हैं। जब शरीर और जीव की यह स्थिति है तो फिर धन, मकान, पत्नी और पुत्र तो प्रगट रूप से भिन्न ही हैं; वे अभिन्न कैसे हो सकते हैं?

पण्डित भूधरदासजी भी इस बात को इसीप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय।
यो कबहूँ या जीव को साथी सगा न कोय।।

जहाँ देह अपनी नहीं तहाँ न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट हैं, पर हैं परिजन लोय।।

यह जीव स्वयं अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण को प्राप्त होता है। इसप्रकार इस जीव का कोई सगा साथी नहीं है।

अरे भाई ! जब शरीर ही अपना नहीं है, तब अन्य कोई अपना कैसे हो सकता है ? घर, सम्पत्ति और कुटुम्बीजन तो प्रगट रूप से पर हैं; उन्हें अपना कैसे माना जा सकता है ?

एकत्व और अन्यत्व भावना के सन्दर्भ में भी जगत की समझ ठीक नहीं है; क्योंकि इनके चिन्तन से भी यह खेद-खिन्न हो जाता है।

'इस जीव के जन्म-मरण में, सुख-दु:ख में; माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि कोई साथ नहीं देता, सबकुछ अकेले ही भोगना पड़ता है' – उक्त चिन्तन वैराग्योत्पादक नहीं, द्वेषोत्पादक है; क्योंकि अबतक यह सोचकर कि ये कुटुम्बीजन सुख-दु:ख में मेरा साथ देंगे, उनसे राग करता था और अब यह जानकर कि साथ नहीं देते, द्वेष करने लगता है।

बारह भानाओं के चिन्तन से तो रागभाव टूटकर वैराग्यभाव होना चाहिये; पर इस चिन्तन से तो राग के स्थान पर द्वेषभाव होगा।

अरे भाई ! बात यह है कि स्त्री-पुत्रादि साथ देते नहीं हैं या दे नहीं सकते ? – दोनों बातों में बहुत बड़ा अन्तर है।

जब हम यह सोचते हैं कि साथ देते नहीं हैं तो राग के स्थान पर द्वेष हो जाता है; किन्तु जब हम यह सोचते हैं कि साथ दे नहीं सकते, तब राग-द्वेष का अभाव होकर वैराग्य हो जाता है, वीतरागभाव पैदा होता है, साम्यभाव पैदा होता है।

वस्तुस्थिति भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयंकृत कर्मों का फल स्वयं ही भोगना होता है, कोई अन्य व्यक्ति उसे बाँट नहीं सकता।

इसीप्रकार इसे इस बात का दु:ख है कि इस जीव को जन्म-मरण के दु:ख भी अकेले ही भोगने पड़ते हैं, स्वर्ग-नरक-निगोद में भी अकेले ही जाना पड़ता है।

पर भाईसाहब ! सोचने की बात यह है कि क्या आप यह चाहते हैं कि आपके साथ ही आपके बाल-बच्चे भी मर जावें ? नहीं तो फिर यह शिकायत क्यों ? जन्म के सम्बन्ध में भी बात ऐसी है कि यदि आपका पुत्र आपका जन्म का साथी होता तो फिर वह पुत्र नहीं, जुड़वा भाई होता। यदि पत्नी जन्म की साथी होती तो वह भी पत्नी नहीं, जुड़वा बहिन होती।

एक बात यह भी तो है कि मनुष्यगति में तो अधिकांश लोगों का

जन्म अकेले ही होता है। यदि आपको जन्म के साथी चाहिये थे तो फिर कूकरी-सूकरी के उदर से जन्म लेते तो वहाँ पाँच-सात का साथ तो मिल ही जाता। इससे भी अधिक का साथ चाहिये तो फिर सर्पिणी के पेट से पैदा होते तो वहाँ हजारों का साथ मिल जाता।

यह तो आप जानते होंगे कि सर्पिणी के एक साथ हजारों बच्चे पैदा होते हैं; पर यह ध्यान रहे वह सर्पिणी कुण्डली मारकर उसमें बच्चों को जन्म देती है और उनके जन्मते ही उन्हें खा जाती है। वे जान बचाकर भागते हैं। मिट्टी में लुक-छिपकर दस-बीस मुश्किल से बच पाते हैं। दस-बीस बचते हैं, तब तो दुनियाँ में इतने साँप हैं। यदि सभी बच जाते तो दुनियाँ में साँप ही साँप होते।

जिस माँ के हजारों बच्चे एकसाथ पैदा होते हैं, उस माँ का हृदय ऐसा निर्दयी होता है कि स्वयं माँ बच्चों को खा जाती है और जिसका बच्चा अकेला पैदा होता है, उसकी माँ उसकी चिन्ता मरते दम तक रखती है।

यदि तुम्हारा काम इतने साथियों से भी न चले तो फिर एक स्थान ऐसा भी है कि जहाँ अनन्त जीव एक साथ जन्मते हैं और एक साथ मरते हैं; उस स्थान का नाम है निगोद। इसप्रकार साथ की भावना निगोद की भावना है और एकत्व की भावना मोक्ष की भावना हैं।

इस जगत में एकत्व ही सत्य है, शिव है और सुन्दर है। मैंने तो बहुत पहले लिखा था कि –

ले दौलत प्राणप्रिया को तुम मुक्ति न जाने पावोगे।
यदि एकाकी चल पड़े नहीं तो यही खड़े रह जावोगे।।

पर से भिन्नता और अपने में अखण्डता-एकता आत्मा का सौन्दर्य है; यह आत्मा का परम सौभाग्य है, क्योंकि यह आनन्द का जनक है।

अनित्य, अशरण और संसार भावना में संयोगों की अनित्यता, अशरणता और असारता बताने के उपरान्त एकत्व और अन्यत्व भावना

में आत्मा का स्वयं से एकत्व और पर से भिन्नत्व की चर्चा करने पश्चात् अब अशुचि भावना में अत्यन्त नजदीक के संयोगरूप शरीर की अशुचिता की चर्चा करते हैं।

आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही इस शरीर की वास्तविक स्थिति क्या है ? – यह बताते हुये पण्डित दौलतरामजी इसी छहढाला में लिखते हैं–

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहै घिनकारी, अस देह करै किम यारी॥

कफ और चर्बी आदि से मैली-कुचेली यह देह मांस, खून एवं पीपरूपी मल की थैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारों से निरन्तर घृणास्पद मैले पदार्थ ही बहते रहते हैं। हे आत्मन् ! तू ऐसी घृणास्पद इस देह से यारी (मित्रता, स्नेह) क्यों करता है ?

उक्त सन्दर्भ में कविवर पण्डित भूधरदासजी की वैराग्यभावना में प्रस्तुत निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं –

देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई।
सागर के जल सौं शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई॥
सात कुधातमयी मलमूरत, चाम लपेटी सोहै।
अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है॥
नव मलद्वार स्रवैं निशि-वासर, नाम लिए घिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै ?
पोषत तो दुख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै॥
राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामैं सार यही है॥[1]

यह देह अत्यन्त अपवित्र है, अस्थिर है, घिनावनी है; इसमें रंचमात्र भी सार नहीं है। सागरों के जल से धोये जाने पर भी शुद्ध होनेवाली नहीं है।

१. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ३४-३५

चमड़े में लिपटी शोभायमान दिखनेवाली यह देह सात कुधातुओं से निर्मित मल की मूर्ति ही है; क्योंकि अन्तर में देखने पर पता चलता है कि इसके समान अपवित्र जगत में अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

इसके नव द्वारों से दिन-रात ऐसा मैल बहता रहता है, जिसके नाम लेने से ही घृणा उत्पन्न होती है। जिसे अनेक व्याधियाँ और उपाधियाँ निरन्तर लगी रहती हैं, उस देह में रहकर आजतक कौन बुद्धिमान सुखी हुआ है ?

इस देह का स्वभाव दुर्जन के समान है; क्योंकि इसमें भी दुर्जन के समान पोषण करने पर दु:ख और दोष उत्पन्न होते हैं और शोषण करने पर सुख उत्पन्न होता है। फिर भी यह मूर्ख जीव इससे प्रीति बढ़ाता है।

इसका स्वरूप रमने योग्य नहीं है, अपितु छोड़ने योग्य ही है; अत: हे भव्य प्राणियों ! इस मानव तन को पाकर महातप करो; क्योंकि इस नरदेह पाने का सार आत्महित कर लेने में ही है।

उक्त छन्दों में देह के अशुचि स्वरूप का वैराग्योत्पादक चित्रण कर अन्त में यही कहा गया है कि '**अस देह करे किम यारी**' अर्थात् ऐसी अशुचि देह से क्या प्रेम करना ? तथा '**राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है**' अर्थात् इसका स्वरूप रमने योग्य नहीं है, अपितु यह छोड़ने योग्य ही है।

मैंने स्वयं अशुचि भावना के सन्दर्भ में लिखा है कि –

इस देह के संयोग में जो वस्तु पलभर आयेगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय दुर्गन्धमय हो जायेगी।।
किन्तु रह इस देह में निर्मल रहा जो आतमा।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है बस ध्येय भी वह आतमा।।

जो पानी सबको पवित्र करता है, वह पानी मुँह के स्पर्श से अपवित्र (जूठा) हो जाता है। हाथ की चक्की का आटा, अठपहरा शुद्ध घी और कुये के पवित्र पानी से बना हुआ परम पवित्र हलुआ इस मुँह के स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाता है। उक्त हलुवा खाने के दस मिनिट बाद ही वमन

हो जावे तो कोई उसे छूना भी पंसद नहीं करता और यदि वह हलुवा आठ-दस घंटे शरीर के संयोग में रहकर किसी रास्ते बाहर आवे तो लोग उसे देखना पसंद नहीं करते, उसका नाम लेना पसंद नहीं करते।

उस परम पवित्र हलुवा की यह दुर्दशा इस देह की संगति से ही तो हुई है। समझ लो यह देह कितनी पवित्र है? पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस देह के संयोग में अनंत काल रहने पर भी जो आत्मा स्वभाव से अपवित्र नहीं हुआ, परमपवित्र ही बना रहा; वह आत्मा ही जानने योग्य है, श्रद्धान करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है; क्योंकि उस आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से ही अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना से लेकर अशुचिभावना तक का सम्पूर्ण चिन्तन संयोगी पदार्थों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है। संयोगी पदार्थों में भी आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती संयोगी पदार्थ होने से शरीर ही केन्द्रबिन्दु बना रहा है। अनित्यभावना में मृत्यु की चर्चा करके शरीर के संयोग की ही क्षणभंगुरता का चिन्तन किया गया है। अशरणभावना में 'मरने से कोई बचा नहीं सकता' की बात करके शरीर के संयोग को अशरण कहा जाता है। इस संसार में अनेक देहों को धारण किया, पर किसी देह के संयोग में सुख प्राप्त नहीं हुआ। यह संसार भावना की बात हुई।

शरीर के संयोग-वियोग का नाम ही तो जन्म-मरण है; जन्म-मरण के अनन्त दु:ख भी जीव अकेला ही भोगता है, कोई भी संयोग साथ नहीं देता; देहादि सभी संयोगी पदार्थ आत्मा से अत्यन्त भिन्न ही हैं – यही चिन्तन एकत्व और अन्यत्व भावनाओं में होता है। अपने और पराये शरीर की अशुचिता का विचार ही अशुचिभावना में किया जाता है।

इसप्रकार यह निश्चित है कि उक्त सम्पूर्ण चिन्तन देह को केन्द्रबिन्दु

दृष्टि को देहादि संयोगी पदार्थों पर से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। उक्त प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अनित्यादि भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया के स्वरूप का निर्धारण हुआ है।

अबतक का सम्पूर्ण चिन्तन वैराग्यप्रेरक था; जिसने चित्त की भूमि को तत्त्वज्ञान का बीज बोने योग्य बना दिया। अत: अब आगे की भावनाओं में तत्त्वसंबंधी चिन्तन चलेगा।

संयोगों की चर्चा के उपरान्त अब संयोगी भावरूप आस्रव, बंध और पुण्य-पाप के प्रतिनिधि के रूप में आस्रव भावना की चर्चा करते हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि बारह भावनाओं में पुण्य, पाप और बंध नाम की कोई भावना नहीं है। अत: यह स्वाभाविक ही है कि ये आस्रवभावना में ही सामिल हैं।

जो योगन की चपलाई तातैं ह्वै आस्रव भाई।
आस्रव दुखकार घनेरे बुधिवंत तिने निरवेरे।।

मन-वचन-काय रूप योगों के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में कंपन होता है, उससे कर्मों का आस्रव होता है। ये आस्रव घना दु:ख देनेवाले हैं; इसलिए बुद्धिमान लोग उनका निरोध कर देते हैं।

पुण्यास्रव और पापास्रव के भेद से आस्रव दो प्रकार का होता है।

इसीप्रकार शुभास्रव और अशुभास्रव के भेद से भी आस्रव दो प्रकार का माना गया है। ध्यान रहे बंध के कारणभूत आस्रवभाव चाहे शुभरूप हों, चाहे अशुभरूप; चाहे पुण्यरूप हों, चाहे पापरूप – सभी आस्रवों को यहाँ घना दु:ख देनेवाला कहा गया है।

समयसार की ७२वीं एवं ७४वीं गाथाओं में भी बिना किसी भेदभाव के सभी प्रकार के आस्रवभावों को अशुचि, अध्रुव, अनित्य, दु:खरूप और दु:ख का कारण बताया गया है।

दूसरी ढाल में आस्रव और बंधतत्त्वसंबंधी भूल के प्रकरण में इस बात पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है; अत: यहाँ विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

संयोग और संयोगी भावों संबंधी भावनाओं की चर्चा विस्तार से हुई; अब असंयोगी निर्मलभावरूप संवर-निर्जरा भावना की चर्चा करते हैं।

संवर भावना का स्वरूप छहढाला में अत्यन्त मार्मिक रूप से इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है –

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

जिन्होंने पुण्य-पापरूप आस्रवभावों को न करके आत्मा के अनुभव में चित्त को लगाया है; उन्होंने ही आते हुये द्रव्यकर्मों को रोक दिया है। इसप्रकार द्रव्यास्रव और भावास्रव के अभावपूर्वक जिन्होंने द्रव्यसंवर और भावसंवर प्राप्त कर लिया है; उन्होंने ही सुख प्राप्त किया है।

ध्यान रहे उक्त छन्द में आत्मानुभव को ही संवर कहा है। इसप्रकार आत्मानुभव या आत्मानुभव की भावना ही संवर भावना है।

छहढाला में निर्जराभावना संबंधी छन्द इसप्रकार है –

निज काल पाय विधि झरना, तासो निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥

समय आने पर जो कर्म झड़ते हैं, उससे आत्महित का कार्य सिद्ध नहीं होता। शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोगरूप ध्यान तप से जो कर्म कटते हैं; उससे ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

मूलत: बात यह है कि जो कर्म बंधे हैं, वे अपनी स्थिति के अनुसार सत्ता में रहते हैं; किन्तु जब उदय काल आता है तो उदय में आकर, फल देकर खिर जाते हैं। शास्त्रों में इस खिरने को भी निर्जरा शब्द से कहा गया है; इसे सविपाक निर्जरा कहते हैं।

इसप्रकार की निर्जरा से आत्मा को कोई लाभ नहीं है; क्योंकि

मोहकर्म के उदय में जो मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; उनसे उक्त निर्जराकाल में भी नवीन कर्मबंध होता है। वह निर्जरा किस काम की, जिसके साथ कर्मबंध की प्रक्रिया जुड़ी हुई है। निर्जरा तो वही वास्तविक है, काम की है कि जिसमें कर्मों के झड़ने के साथ आगामी कर्मबंध न हो।

संवर-निर्जरा भावना में मोक्ष की भावना को भी सामिल कर लेना चाहिये; क्योंकि मोक्ष भावना नाम की कोई भावना नहीं है।

धर्म की उत्पत्ति संवर है, धर्म की वृद्धि निर्जरा है और धर्म की पूर्णता मोक्ष है। वस्तुत: आत्मशुद्धि ही धर्म है। अत: इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि शुद्धि की उत्पत्ति संवर है, शुद्धि की वृद्धि निर्जरा है और शुद्धि की पूर्णता मोक्ष है।

संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, अशुचि हैं, सुख-दु:ख में साथ देनेवाले नहीं हैं; क्योंकि वे अपने आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं।

आरंभिक छह भावनाओं में संयोगों के संदर्भ में इसप्रकार का चिन्तन करने के उपरान्त सातवीं आस्रवभावना में 'संयोग के लक्ष्य से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले संयोगीभाव – चिद्‌विकार – मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव भी अनित्य हैं, अशरण हैं, अशुचि हैं, दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण भी हैं; अत: हेय हैं और भगवान आत्मा नित्य है, परमपवित्र है, परमानन्दरूप है एवं परमानन्द का कारण भी है; अत: ध्येय है, श्रद्धेय है, आराध्य है, साध्य है एवं परम-उपादेय भी है' – इसप्रकार का चिन्तन किया गया है।

इसप्रकार संयोग और संयोगी भावों से विरक्ति उत्पन्न कर संवर और निर्जरा भावना में पर और पर्यायों से भिन्न निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली निर्मलपर्यायरूप शुद्धि और शुद्धि की वृद्धि की उपादेयता का चिन्तन किया गया; क्योंकि शुद्धि की उत्पत्ति व स्थितिरूप संवर तथा वृद्धिरूप निर्जरा ही अनन्त सुखरूप मोक्ष प्रगट होने के साक्षात् कारण हैं।

इसप्रकार ज्ञेयरूप संयोग, हेयरूप आस्रवभाव एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा के सम्यक् चिन्तन के उपरान्त अब लोकभावना में षट्द्रव्यमयी लोक के स्वरूप पर विचार करते हैं।

लोकभावना के सन्दर्भ में छहढाला में कहा गया है कि –

किनहू न कर्यो न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माहिं बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता।।

छह द्रव्यों के समुदायरूप इस लोक को न तो किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किये है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इस लोक में यह आत्मा अनादि काल से समताभाव के बिना भ्रमण करता हुआ अनन्त दु:ख सह रहा है।

कविवर पण्डित भूधरदासजी कृत बारह भावना में लोकभावना संबंधी छन्द इसप्रकार है –

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तैं, भरमत है बिन ज्ञान।।

इस पुरुषाकार चौदह राजू उँचे लोक में यह जीव आत्मज्ञान बिना अनादिकाल से ही भ्रमण कर रहा है।

उक्त दोनों भावनाओं में नीचे की पंक्ति का भाव तो लगभग समान ही है; क्योंकि दोनों में ही बताया गया है कि जीव अनादि से ही लोक में भ्रमण करता हुआ दु:ख भोग रहा है। अन्तर मात्र इतना है कि एक में दु:ख का कारण समताभाव का अभाव बताया गया है और दूसरी में सम्यग्ज्ञान का अभाव, पर इसमें कोई विशेष बात नहीं है; किन्तु ऊपर की पंक्ति में जो लोक के स्वरूप का प्रतिपादन है, वह भिन्न-भिन्न है। एक में लोक को स्वनिर्मित, स्वाधीन, अविनाशी और षट्द्रव्यमयी बताया गया है; तो दूसरी में चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार निरूपित किया गया है।

एक ने न्यायशास्त्र को आधार बनाया है तो दूसरे ने करणानुयोग को। इस जगत का कोई कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता नहीं है – यह न्यायशास्त्र की बात है और पुरुषाकार चौदह राजू ऊँचे लोक का निरूपण करणानुयोग का विषय है।

लोकभावना में छह द्रव्यों के समुदायरूप लोक की बात भी चिन्तन का विषय बनती और लोक की भौगोलिक स्थिति भी। लोकभावना की विषय-वस्तु संबंधी उक्त दोनों प्रकारों में से दौलतरामजी ने प्रथम प्रकार को एवं भूधरदासजी ने दूसरे प्रकार को पकड़कर अपनी बात प्रस्तुत कर दी है; पर एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि लोकभावना की जो मूल भावना है, वह दोनों में समान रूप से विद्यमान है।

मूल बात लोक के स्वरूप प्रतिपादन की नहीं, सम्यग्ज्ञान और समताभाव बिना जीव के अनादि परिभ्रमण की है; क्योंकि सम्यग्ज्ञान और समताभाव की तीव्रतम रुचि जागृत करना ही इन भावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन है।

अब बोधिदुर्लभ और धर्मभावना की चर्चा करते हैं –

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों को रत्नत्रय धर्म कहते हैं और इन तीनों का मिलकर एक नाम बोधि भी है। इसप्रकार बोधि और धर्म शब्द एकार्थवाची ही हैं। इस कारण धर्मभावना को बोधि भावना भी कह सकते हैं और बोधिदुर्लभ भावना को धर्मदुर्लभ भावना भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि बोधिदुर्लभ भावना में रत्नत्रयरूप धर्म की दुर्लभता बताई गई है और धर्मभावना में रत्नधर्म की आराधना की बात कही गई है।

छहढाला में दोनों भावनाओं का स्वरूप इसप्रकार दिया गया है –

अन्तिम ग्रीवक लौं की हद, पायो अनन्त बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥

जे भावमोह तैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै।।

यह जीव द्रव्यलिंग धारण करके अनन्त बार अन्तिम ग्रैवेयक तक गया; किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं की। इस दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को मुनिराज निजात्मा के आश्रय से साधते हैं।

मोह से भिन्न दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप जितने भी निर्मलभाव हैं; वे सभी धर्म हैं। जब यह जीव उक्त धर्म को धारण करता है; तब कभी चलायमान न होनेवाला मोक्ष सुख प्राप्त करता है।

यद्यपि दौलतरामजी के छन्द में '**पर सम्यग्ज्ञान न लाधो**' लिखा है; पर उसका भाव रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई – यही है। 'बोध' शब्द का अर्थ होता है ज्ञान और 'बोधि' शब्द का अर्थ होता है रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। भावना का नाम 'बोधदुर्लभ' नहीं; 'बोधिदुर्लभ' है; इसलिये यहाँ सम्यग्ज्ञान शब्द में सम्यग्ज्ञान के अविनाभावी सम्यग्दर्शन और कम से कम अंशरूप सम्यक्चारित्र लेना ही अभीष्ट है।

इसप्रकार इन बारह भावनाओं की चर्चा करने के उपरान्त अन्त में दौलतरामजी लिखते हैं –

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी।।

वह रत्नत्रयरूप धर्म मुनियों के द्वारा धारण किया जाता है। अतः अब उनके कर्तृत्त्व की बात करते हैं। हे भव्यप्राणी ! अनुभूतिस्वरूप मुनिधर्म के स्वरूप को तुम ध्यान से सुनो और उसे अपनी अनुभूति से प्रमाणित करो।

इसप्रकार बारह भावनाओं की चर्चा से विराम लेते हैं और अब आगामी ढाल में सकलचारित्र अर्थात् मुनिधर्म के स्वरूप पर विचार करेंगे। ●

छठवाँ प्रवचन

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै॥

अब इस छठवीं ढाल में मुनिधर्म का स्वरूप समझाते हैं। यह मुनिधर्म इतना महान है कि इसे धारण किये बिना न तो आजतक कोई अरहंत-सिद्ध पद को प्राप्त हुआ है और न कभी होगा।

एक श्रावक के लिये मुनिधर्म पर चर्चा करना एक ऐसा दुस्तर कार्य है कि जिसे संपन्न करने के लिये अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यह दुस्तर कार्य तो है, पर असंभव नहीं है; क्योंकि जिनवाणी एक ऐसी नौका है कि जिसके सहारे यह कार्य एकदम सही रूप में सरलता से किया जा सकता है।

पण्डित दौलतरामजी इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे। इसलिये उन्होंने जिनवचनों से चिपटे रहकर यह महान कार्य पूर्ण निर्भयता के साथ सम्पन्न कर दिखाया है।

मुनिधर्म का स्वरूप स्पष्ट करते समय उनके समक्ष कोई व्यक्ति विशेष नहीं, अपितु जिनवाणी माता थी। किसी व्यक्ति विशेष के लक्ष्य से किये गये कथन में राग-द्वेष की बू आ सकती है; किन्तु जिनवचनों को आधार बनाकर किये गये कथन पूर्णतः निर्दोष होते हैं।

भाग्य की बात है कि उनके प्रत्यक्ष परिचय में कोई मुनिराज नहीं थे; क्योंकि उस समय उनके क्षेत्र में मुनिराजों का समागम ही नहीं था। अतः उन्होंने किसी के लक्ष्य से कुछ कहा होगा – इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मैं भी इस बात का पूरी तरह ध्यान रखूँगा कि

किसी व्यक्तिविशेष के लक्ष्य से कुछ न कहा जाय, अपितु जिनवचनों के अनुसार ही प्रतिपादन हो।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से उत्पन्न शुद्धपरिणति के धारक सन्तों के सहजभाव से ही २८ मूलगुणों का पालन होता है।

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण – इसप्रकार मुनिराजों के कुल २८ मूलगुण होते हैं। इनके अतिरिक्त भी ३ गुप्तियाँ, १० धर्म आदि अनेक गुण होते हैं।

सर्वप्रथम ५ महाव्रतों और ५ समितियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुये पण्डित दौलतरामजी लिखते हैं –

षट्काय जीव न हननतैं, सब विधि दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं।
अठ-दश सहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहैं॥
अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दशधा तैं टलैं।
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्य्या तैं चलैं॥
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तैं अमृत झरैं॥
छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनैं घर अशन को।
लैं तप बढ़ावन हेतु नहिं तन, पोषते तजि रसन को॥
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखि कैं गहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन, मल-मूत्र-श्लेषम परिहरैं॥

मुनिराजों के पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकाय – इन छह काय के जीवों का घात न होने से किसी भी प्रकार की द्रव्यहिंसा नहीं होती और रागादि भावों के निवारण से भावहिंसा भी उत्पन्न नहीं होती।

प्राणों के घात को द्रव्यहिंसा कहते हैं और मोह-राग-द्वेष भावों को भावहिंसा कहते हैं। अहिंसा महाव्रत के धारी मुनिराजों के अपनी भूमिकानुसार द्रव्य और भाव – दोनों प्रकार की हिंसा नहीं होती है; इसलिये ये अहिंसा महाव्रत के धारी हैं।

वे मुनिराज रंचमात्र भी झूठ नहीं बोलते और बिना दिये मिट्टी और जल भी ग्रहण नहीं करते; इसलिये सत्य महाव्रत और अचौर्य महाव्रत के धारी हैं। १८ हजार प्रकार के शील को धारण करनेवाले वे मुनिराज निरन्तर ब्रह्मस्वरूप अपने चेतन आत्मा में रमण करते रहते हैं – यह उनका ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसंकवेद – ये १४ अंतरंग परिग्रह हैं और धन-धान्यादि १० बहिरंग परिग्रह हैं। मुनिराज उक्त चौबीस परिग्रहों से रहित होते हैं – यह उनका परिग्रहत्याग महाव्रत है।

जब भी परिग्रह या परिग्रहत्याग की चर्चा चलती है – हमारा ध्यान बाह्य परिग्रह की ओर ही जाता है; मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभादि भी परिग्रह हैं – इस ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। क्रोध, मान, माया, लोभ की जब भी बात आयेगी तो कहा जायेगा कि ये तो कषायें हैं; पर कषायों का भी परिग्रह होता है – यह विचार नहीं आता।

जब जगत क्रोध-मानादि कषायों को भी परिग्रह मानने को तैयार नहीं तो फिर हास्यादि कषायों को कौन परिग्रह माने ?

पाँच पापों में परिग्रह एक पाप है और हास्यादि कषायें परिग्रह के भेद हैं। पर जब हम हँसते हैं, शोकसंतप्त होते हैं, तो क्या हम यह समझते हैं कि हम कोई पाप कर रहे हैं या इनके कारण हम परिग्रही हैं ?

बहुत से परिग्रह-त्यागियों को कहीं भी खिलखिलाकर हँसते,

हड़बड़ाकर डरते देखा जा सकता है। क्या वे यह अनुभव करते हैं कि यह सब परिग्रह है ?

जयपुर में लोग भगवान की मूर्तियाँ लेने आते हैं और मुझसे कहते हैं कि हमें तो बहुत सुन्दर मूर्ति चाहिये, एकदम हँसमुख। मैं उन्हें समझाता हूँ कि भाई ! भगवान की मूर्ति हँसमुख नहीं होती। हास्य तो कषाय है, परिग्रह है और भगवान तो अकषायी, अपरिग्रही हैं; उनकी मूर्ति हँसमुख कैसे हो सकती है ? भगवान की मूर्ति की मुद्रा तो वीतरागी शान्त होती है। कहा भी है –

''जय परमशान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत।[१]

छवि वीतरागी नग्न मुद्रा, दृष्टि नासा पर धरैं।।[२]''

यह भी बहुत कम लोग जानते हैं कि सब पापों का बाप लोभ भी एक परिग्रह है। शब्दों में जानते भी हों तो यह अनुभव नहीं करते कि लोभ भी एक परिग्रह है, अन्यथा यश के लोभ में दौड़-धूप करते तथाकथित परिग्रह-त्यागी दिखाई नहीं देते।

घोर पापों की जड़ मिथ्यात्व भी एक परिग्रह है; एक नहीं, नम्बर एक का परिग्रह है, जिसके छूटे बिना अन्य परिग्रह छूट ही नहीं सकते – इस ओर भी कितनों का ध्यान है ? होता तो मिथ्यात्व का अभाव किये बिना ही अपरिग्रही बनने के यत्न नहीं किये जाते।

इसप्रकार ये पाँच महाव्रत हैं और ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणा समिति, आदाननिक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापनासमिति – ये पाँच समितियाँ हैं।

सकलचारित्र के धारी महाव्रती मुनिराज द्रव्यहिंसा से बचने के

१. पण्डित दौलतरामजी कृत देव-स्तुति

२. कविवर बुधजन कृत देव-स्तुति

लिये प्रमाद छोड़कर दिन में चार हाथ तक की जमीन को देखकर सावधानीपूर्वक चलते हैं – यह उनकी ईर्यासमिति है।

ईर्यासमिति के धारी मुनिराजों की भावना भी ऐसी नहीं होती कि लोग मेरा स्वागत करने आवें, लम्बा जुलूस निकालें; क्योंकि जो स्वागत करने आयेंगे, जो जुलूस आवेगा; वे सब ईर्यासमितिपूर्वक तो चलेंगे नहीं। इसलिये उनकी अनुमोदना मुनिराज नहीं कर सकते।

उनके विहार के समय बिना बुलाये भी अनेक लोग उनके पीछे-पीछे चलने लगते हैं; उनसे भी वे यह नहीं कहते कि अब लौट जाओ; क्योंकि ऐसा कहने का अर्थ यह है कि अभी तक उनका आना मुनिराज को इष्ट था।

लोग उनके पीछे आवें तो आवे, न आवें तो न आवें; उन्हें उनसे कुछ लेना-देना नहीं है। अकेले स्वयं चार हाथ आगे देखकर चलना मात्र ईयासमिति नहीं; अपितु ईर्यासमितिपूर्वक नहीं चलनेवालों को बुलाना-भेजना भी ईर्यासमिति में दोष है।

मुनिराजों का हित-मित-प्रिय बोलना ही भाषासमिति है। भाषा-समिति पूर्वक निकले मुनिराजों के वचन जग का हित करनेवाले, अहित हरनेवाले, सभी प्रकार के संशयों को दूर करनेवाले और सुनने में सुखद होते हैं। ऐसे लगता है मानो उनके मुखरूपी चन्द्रमा से अमृत ही झर रहा है।

भाषा हमें पर से जोड़ती है; परन्तु मुनिराजों को तो पर से जुड़ना ही नहीं है; इसलिये यहाँ मुनिधर्म के सन्दर्भ में भाषा को तीन जगह बाँधा है।

यदि हम दूसरों से नहीं जुड़ना चाहते हैं तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय नहीं बोलना अर्थात् मौन रखना ही है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि बोलो ही नहीं तो सब से बढ़िया बात है, वचनगुप्ति है।

यद्यपि मौन सर्वश्रेष्ठ है; तथापि देशनालब्धि की दृष्टि से ज्ञानी

सन्तों का बोलना भी अनिवार्य है, अन्यथा मुक्ति के मार्ग का लोप हो जावेगा। देशनालब्धि की उपलब्धि रहे – इस भावना से बोले गये वचन आत्महितकारी ही होना चाहिये। यहाँ हित का अर्थ लौकिक हित नहीं लेना, अपितु आत्महितकारी तत्त्व प्रतिपादन ही है।

तात्पर्य यह है कि मुनिराज यदि बोलते हैं तो उन्हें मात्र आत्महितकारी तत्त्व प्रतिपादन ही करना चाहिये। वह भी दिनभर नहीं; सीमित बोलना श्रेष्ठ है। सीमित तत्त्व प्रतिपादन भी प्रिय भाषा में ही होना चाहिये, कठोर भाषा में नहीं।

हित-मित-प्रिय के साथ-साथ वह तत्त्व प्रतिपादन सत्य भी होना चाहिये। सत्य को समझे बिना सत्य बोलना संभव नहीं है; इसलिये पहले सत्य समझना चाहिये। इसप्रकार सत्य समझना सत्यधर्म है, सत्य बोलना सत्य महाव्रत है, हित-मित-प्रिय बोलना भाषा समिति है और कुछ भी नहीं बोलना वचनगुप्ति है।

शरीर के पोषण के लिए नहीं; अपितु तप की वृद्धि के लिए मुनिराजों का उच्च कुल के श्रावक के घर में दाता के आश्रित १६ उद्गमादि दोष, पात्र के आश्रित १६ उत्पादन दोष तथा आहार संबंधी १० और भोजनक्रिया संबंधी ४ दोष – इसप्रकार कुल मिलाकर ४६ दोष टालकर नीरस आहार लेना ऐषणासमिति है और ज्ञान का उपकरण शास्त्र, संयम का उपकरण पीछी और शौच का उपकरण कमण्डलु को अच्छी तरह देखकर उठाना-रखना आदाननिक्षेपण समिति है।

वे मुनिराज मल-मूत्र और कफ आदि का क्षेपण भी निर्जन्तु स्थान देखकर ही करते हैं। उनके इस आचरण को प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये पाँचों महाव्रत और पाँचों समितियाँ द्रव्यहिंसा और भावहिंसा से बचने के साधन हैं।

द्रव्यहिंसा के त्याग के लिए यह जानना जरूरी है कि जिन जीवों का घात हमसे होने की संभावना है; वे कहाँ-कहाँ रहते हैं, किन-किन शरीरों में रहते हैं ? स्थूल रूप से तो हम भी यह निर्णय कर सकते हैं; किन्तु सूक्ष्मता से इस बात को जानने के लिए सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार लिखी गई जिनवाणी ही एकमात्र शरण है।

अतः उक्त सन्दर्भ में जिनवाणी में श्रावकों या मुनिराजों के लिए आचरण और व्यवहारसंबंधी कुछ मर्यादायें, कुछ नियम-उपनियम बताये गये हैं; उन मर्यादाओं और नियम-उपनियमों का विधिवत पालन करने से अहिंसा धर्म का भलीभाँति पालन होता है।

आलू आदि जमीकन्दों में अनन्त निगोदिया जीव होते हैं – इस बात का निर्णय हम अपनी आँखों से देखकर नहीं कर सकते। यह बात हमें जिनवाणी के स्वाध्याय से ही ज्ञात होती है। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि जिनवाणी में जिन्हें अभक्ष्य कहा गया है, अनुपसेव्य कहा गया है; उनका सेवन हमें नहीं करना चाहिये। जिनवाणी में भूमिकानुसार जो आचरण करने योग्य कहा है, वह करे और जिसका निषेध किया गया है, वह न करें। यही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है। उक्त सन्दर्भ में अपनी बुद्धि से कल्पनालोक में विचरण करने से कोई लाभ नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार ग्रंथ में मुनिराजों को आगम-चक्षु कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मुनिराज अपने आचरण और व्यवहार को आगम के आधार पर सुनिश्चित करते हैं। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि श्रावकों और मुनिराजों के आचरण और व्यवहार को आगम की कसौटी पर कसें, परखें; अपनी काल्पनिक मान्यताओं के आधार पर नहीं।

आगम का अभ्यास न होने से जिन्हें पता ही नहीं है कि जीव

कहाँ-कहाँ होते हैं; वे उनकी हिंसा से कैसे बच सकते हैं और अपनी वाणी से तत्संबंधी सत्य का उद्‌घाटन भी कैसे कर सकते हैं?

तात्पर्य यह है कि वे उक्त सन्दर्भ में सत्य भी नहीं बोल सकते।

पाँच समितियों में उनका चार हाथ जमीन देखकर चलना, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, ४६ दोष टालकर निरन्तराय आहार लेना, पींछी-कमंडलु और शास्त्रों को अच्छी तरह देखकर सावधानी से उठाना-रखना और निर्जन्तु भूमि देखकर मल-मूत्र क्षेपण करना भी जीवों की रक्षा की भावना से ही होता है।

एक भाई हमसे बोले कि पुराने जमाने में मुनिराज सवारी का त्याग इसलिये करते थे कि तब सवारी के काम में पशु आते थे और उन पर सवारी करने से उन्हें तकलीफ होती थी; पर आज तो सबकुछ पेट्रोल से चलता है; अत: अब उन्हें सवारी से परहेज नहीं करना चाहिये।

हमने उनसे कहा कि यह बात नहीं है। भाई ! मुनिराज चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं। तो क्या हाथी, घोड़े और बैल भी ईर्यासमिति-पूर्वक चार हाथ जमीन देखकर चलेंगे ? क्या आज की मोटरगाड़ियाँ भी चार हाथ जमीन देखकर चलती हैं ? अत: व्यर्थ के कुतर्क से कोई लाभ नहीं है।

मुनिराजों का रक्षा का भाव भी यहीं तक सीमित है कि उनके निमित्त से किसी का घात न हो जाय, किसी को पीड़ा न पहुँचे; दूसरे से दूसरों को बचाना उनका काम नहीं है। यह तो आपको मालूम ही है कि दूसरों को दूसरों से बचाने के तीव्रतम भाव के कारण मुनिराज विष्णुकुमार को मुनिपद छोड़ना पड़ा था। उनकी दीक्षा भंग हो गई थी और उन्हें दुबारा दीक्षा लेनी पड़ी थी; जिससे उनकी वरिष्ठता भी प्रभावित हुई थी।

इस सन्दर्भ में विशेष जानने की इच्छा हो तो लेखक की अन्य कृति '**रक्षाबंधन और दीपावली**' नामक पुस्तक को पढ़ना चाहिये।

अधिकांशतः महान सन्त वनवासी होते हैं, जंगल में रहते हैं और जंगलों में तो जंगलराज ही होता है। जंगल में उनकी आँखों के सामने ही एक मांसाहारी जानवर शाकाहारी जानवर का शिकार कर रहा हो तो क्या वे उसे बचाने के लिये मांसाहारी को रोकेंगे ? रोकेंगे तो कैसे रोकेंगे; क्योंकि आसानी से तो वह रुकनेवाला है नहीं।

यदि वह इसप्रकार आसानी से रुक जाय तो उसे भूखा रहना पड़ेगा, भूखा मरना पड़ेगा। उसे रोकने के लिये क्या वे उसे पीटेंगे, मारेंगे ?

यदि हाँ; तो वे मुनिराज भी हिंसक हो जायेंगे। बिना हथियारों के, बिना जोखम उठाये यह सब होगा भी कैसे ? बात एक दिन की और एक जीव की तो है नहीं; जंगल में तो यह सब प्रतिदिन होता है। यदि आत्मार्थी मुनिराज इसमें उलझेंगे तो फिर वे आत्मा का ध्यान कब करेंगे ?

एक जानवर को एक बार बचा लिया तो उसे निरन्तर कैसे बचाये रखेंगे ? क्या वे उसका पालन-पोषण भी करेंगे ? यदि हाँ; तो फिर तो पूरा ताम-झाम खड़ा हो जायेगा। जिस उलझन को छोड़कर आये हैं; उसी में और अधिक गहराई से उलझ जायेंगे।

यह काम तो राजा-महाराजाओं से भी नहीं हो सकता, चक्रवर्तियों से भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि हो सकता होता तो उनके राज्य में आनेवाले जंगलों में एक जीव दूसरे को मारकर नहीं खा सकता था।

यह एक असंभव-सा कार्य है। अतः मुनिराजों की करुणा या रक्षा करने का भाव यहीं तक सीमित है कि उनके द्वारा या उनके निमित्त से किसी जीव का घात न हो, किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे। इसीलिये ये पंच महाव्रत और पाँच समितियाँ हैं; जिनका पालन वे सावधानीपूर्वक करते हैं।

मुनिराज १४ प्रकार के अंतरंग और १० प्रकार के बहिरंग परिग्रह के त्यागी होते हैं। जब उन्होंने तन का वस्त्र भी छोड़ दिया तो फिर वे

धर्म के नाम पर ही सही, गृहस्थों के करने योग्य भवन निर्माण आदि कार्यों में कैसे उलझ सकते हैं ? क्या ये कार्य बिना हिंसा के संभव हैं ?

अरे भाई ! इन कार्यों को करना-कराना तो बहुत दूर की बात है; उनके द्वारा तो इनकी अनुमोदना भी नहीं हो सकती। गृहत्यागी गृहस्थ भी जब ये कार्य नहीं कर सकता तो फिर मुनिराजों की तो बात ही अलग है। वे तो चलते-फिरते सिद्ध हैं; उनकी वृत्ति तो अलौकिक होती है।

मेरे एक शिष्य ब्रह्मचारी हैं, गृहत्यागी हैं। उन्होंने एक बहुत बड़ा प्रोजेक्ट अपने हाथों में ले लिया और उसके प्रति समर्पित हो गये।

उक्त परिसर में मंदिर के साथ-साथ शताधिक कमरे भी बन गये थे। मंदिर की गुम्मद का काम चल रहा था और मैं वहाँ से अचानक पास हुआ तो उसे देखने चला गया।

मैंने बहुत मना किया कि मैं हृदयरोगी हूँ; अतः ऊपर तक नहीं जा सकता; पर वे कब माननेवाले थे। मजदूरों से उठवाकर वे मुझे ऊपर ले गये और वहाँ बताया कि यह इतने फीट ऊँचा गुम्मद है। यहाँ से १०-१५ किलोमीटर तक आसानी से देखा जा सकता है।

वे अत्यन्त उत्साहित थे और उस गुम्मद की स्तुति इसप्रकार कर रहे थे कि शायद इतने उत्साह से कभी भगवान की भी न की होगी।

मुझसे उन्हें क्या अपेक्षा थी यह तो वे ही जाने; पर मैंने अत्यन्त गंभीरता के साथ जो कुछ कहा, वह कुछ इसप्रकार था –

मैंने कहा – हे भाई ! यदि तुम शादी कर लेते और गृहस्थी में रहते तो शायद सम्पूर्ण जीवन अपने बाप-दादों के मकान में ही गुजार देते।

यदि बुढ़ापे में बच्चों की सुविधा के लिये अपना मकान भी बनाते तो वह भी दो कमरों से अधिक का नहीं होता।

आज तुम गृहत्यागी ब्रह्मचारी क्या हो गये कि तुम्हें दो सौ कमरे

कम पड़ते हैं। वे भी एक गाँव में नहीं, गाँव-गाँव में। क्या हो गया है तुम्हें? हमने तो ऐसा कुछ नहीं पढ़ाया था।

आज लोग हमसे पूँछते हैं कि ये आपके शिष्य हैं। क्या आपने यही पढ़ाया है ? तो शर्म के मारे माथा झुक जाता है।

तब वे तपाक से बोले – सारी समाज में यही चल रहा है। हम तो गृहस्थ हैं; पर ....।

मैंने उन्हें यहीं पर रोक दिया और कहा मुझे इससे आगे कुछ नहीं सुनना है। तुम हमारे छात्र हो, तत्त्वाभ्यासी हो, आत्मकल्याण की भावना से घर-बार छोड़ चुके हो; इसलिये तुम से कुछ कहने का विकल्प आता है। अन्यथा हमें किसी से क्या लेना-देना ?

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं जिनमन्दिरों और धर्मशाला आदि के निर्माण का विरोधी हूँ; मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि यह काम गृहस्थों के हैं; गृहत्यागियों के नहीं। हम जैसे उन विद्वानों के भी नहीं, जो जिनवाणी माँ की सेवा कर सकते हों, आत्मार्थियों को जैन तत्त्वज्ञान की शिक्षा दे सकते हों।

कुछ लोग कहते हैं कि आपने यह बात सबके सामने क्यों कही, पुस्तक में क्यों लिखी; यदि आपको अधिक विकल्प था तो अकेले में भी तो कह सकते थे।

अरे भाई ! अकेले में ही तो कहा था; पर कहीं कोई असर दिखाई नहीं दिया; इसलिए सार्वजनिक बोल रहे हैं और लिख भी रहे हैं।

जब कहने से कुछ नहीं हुआ तो सभा में बोलने से भी क्या होगा, लिखने से भी क्या होगा ?

इतना तो होगा ही कि जब भविष्य में उक्त प्रवृत्तियों की समीक्षा होगी तो कम से कम उक्त प्रवृत्तियों के कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में हमारा नाम तो नहीं जुड़ेगा।

आप उनके उत्सवों में जाते हैं, उत्साह से प्रवचन भी करते हैं और इन सबमें सामिल भी होते हैं – इसे क्या समझा जाये ?

यही कि यदि हम उक्त उत्सवों में न जाये तो हमें यह बात कहने का अवसर भी कब मिलेगा ? अपनी बात जन-जन तक पहुँचाने का एकमात्र यही तो उपाय है। यदि हम नहीं गये तो फिर तो उक्त विचारधारा का ही बोलबाला हो जायेगा। उक्त विकृतियों पर प्रश्नचिह्न खड़ा करनेवाला भी कोई नहीं रहेगा।

हमारी यह बात आपको कैसी लगी ? यदि आपको ठीक लगती है तो हमारा प्रयोजन सिद्ध हो गया। यदि कोई नहीं बोलेगा, नहीं लिखेगा; तो सत्य सामने कैसे आयेगा, सत्य का प्रचार कैसे होगा ?

आप इसके फल से भी परिचित होंगे, क्या-क्या हो सकता है इसका परिणाम ? है आपको इसका कुछ अनुमान ?

क्यों नहीं, पर अब तो हम किनारे पर ही आ गये हैं। यदि कोई नहीं बुलायेगा तो आने-जाने के श्रम से बचेंगे, धूल-मिट्टी के दूषित वातावरण से बचेंगे; लिखने-पढ़ने के लिये और अधिक समय मिलेगा।

जो कुछ भी हो सकता है; उस सबके लिये हम पूरी तरह तैयार हैं।

यद्यपि ३ गुप्तियाँ २८ मूलगुणों में नहीं हैं; तथापि वे १३ प्रकार के चारित्र में सामिल हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति – यह १३ प्रकार सकल चारित्र कहा गया है। चूँकि यहाँ सकल चारित्र का वर्णन चल रहा है; अतः गुप्तियों की चर्चा भी न्यायोपात्त है।

यही कारण है कि दौलतरामजी ५ महाव्रतों और ५ समितियों की चर्चा करने के उपरान्त ३ गुप्तियों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है –

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय, आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण, उपल खाज खुजावते।।

जब वे मुनिराज मन, वचन और काय का भलीभाँति निरोध करके

अपने आत्मा का ध्यान करते हैं, तब वे आत्मा में ऐसे निमग्न हो जाते हैं कि पत्थर की मूर्ति के समान स्थिर मुद्रा को देखकर, उनकी देह को पत्थर समझ कर हिरण अथवा जंगली पशु अपनी खाज खुजाने लगते हैं।

आत्मध्यान के काल में वाणी से तो कुछ बोलना होता हीं नहीं है, उन्हें बोलने का विकल्प भी नहीं रहता है; काया भी ऐसी स्थिर हो जाती है कि मानो पत्थर की मूर्ति ही विराजमान हो और मन भी पूर्णत: अन्तरमुखी हो जाता है, मन के निमित्त से आत्मा में उठनेवाली विकल्प-तरंगे शान्त हो जाती हैं। उनकी इस स्थिति को मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति कहते हैं।

चौथे छन्द की अन्तिम दो पंक्तियाँ पंचेन्द्रिय विजय के सन्दर्भ में हैं; जो इसप्रकार हैं –

रस रूप गंध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्रिय जयन पद पावने॥

सकल चारित्र के धनी मुनिराज पंचेन्द्रियों के विषय – स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द – यदि सुहावने हों तो उनमें राग नहीं करते और असुहावने हों तो द्वेष नहीं करते; इसलिये वे मुनिराज पंचेन्द्रिय विजयी हैं।

क्या कोई मुनिराज ऐसा कह सकते हैं कि यह स्थान कितना रमणीक है, देखकर तबियत प्रसन्न हो गई। कैसी सुगन्धित पवन मन्द-मन्द चल रही है, मौसम कितना अच्छा है, न अधिक सर्दी और न अधिक गर्मी। कहते हैं यहाँ बारहों महिने ऐसा ही मौसम रहता है, न कोई शोर-गुल, न किसी प्रकार का प्रदूषण। लगता है शेष जीवन यहीं बिताया जाय।

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि मुनिराज पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाले होते हैं और उक्त वाक्यावली में पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति अनन्य लालसा व्यक्त हो रही है।

अब मुनिराजों को प्रतिदिन करने योग्य ६ आवश्यक और शेष ७ गुणों की चर्चा करते हैं –

प्रतिदिन प्रातः, दोपहर और शाम को छह-छह घड़ी (२ घंटे और १२ मिनिट) मन से सामायिक करना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की वचन से स्तुति करना और काया से जिनेन्द्र की वंदना करना, सर्वज्ञकथित आगम का स्वाध्याय करना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करना – ये छह मुनिराजों के आवश्यक हैं, उनके लिये अवश्य करने योग्य कार्य हैं। ये उनके अवश कार्य हैं। तात्पर्य यह है कि वे इन्हें स्वाधीन होकर करते हैं, किसी के वश होकर नहीं।

स्नान का त्याग, दन्तधोवन का त्याग, वस्त्र का त्याग, भूमिशयन अर्थात् जमीन पर सोना, दिन में एक बार आहार लेना, खड़े-खड़े हाथ में आहार लेना और केशलोंच करना – ये सात मुनिराजों के शेष गुण हैं।

इनकी चर्चा छहढाला की छठवीं ढाल में इसप्रकार की गई है –

समता सम्हारैं थुति उचारैं, वंदना जिनदेव को।
नित करैं श्रुति-रति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को।।
जिनके न न्हौंन न दंतधोवन, लेश अंबर आवरन।
भू माहिं पिछली रयनि में, कछु शयन एकाशन करन।।
इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज-पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह, सों लगे निज-ध्यान में।।

वे मुनिराज प्रतिदिन समतापूर्वक सामायिक करते हैं, स्तुति बोलते हैं, जिनदेव की वंदना करते हैं, उनका प्रेम निरन्तर स्वाध्याय में रहता है, प्रतिक्रमण करते हैं और शरीर के प्रति ममत्वभाव को छोड़ते हैं अर्थात् कायोत्सर्ग करते हैं।

ये छह मुनिराजों के प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कार्य हैं।

उन मुनिराजों के न स्नान है और न दन्तधोवन है। तात्पर्य यह है कि न तो वे नहाते हैं और न दातुन (मंजन) करते हैं। उनके शरीर पर रंचमात्र भी वस्त्र का आवरण नहीं होता अर्थात् वे पूर्णतः नग्न रहते हैं।

वे पिछली रात में, भूमि पर एक आसन से थोड़ा-बहुत सोते हैं। रात में तो भोजन का प्रश्न ही नहीं है, दिन में भी एक बार खड़े-खड़े, थाली में नहीं, अपने हाथों में अल्पाहार करते हैं। वे २२ परिषहों से डरते नहीं हैं और अपने हाथों से केशों का लुंचन करते हैं और अपने आत्मा के ध्यान में लगे रहते हैं।

मुनिराजों के उक्त २८ मूलगुणों में से दो मूलगुण तो आहार से ही संबंधित हैं। उनके संबंध में मेरी एक अन्य कृति '**पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव**' का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है –

''मुनिराजों के २८ मूलगुणों में दो मूलगुण आहार से ही संबंधित हैं –

१) दिन में एक बार अल्प आहार लेना और

२) खड़े-खड़े हाथ में आहार लेना।

जैसा कि छहढाला की निम्नांकित पंक्ति में कहा गया है –

''**इकबार दिन में लें आहार खड़े अलप निजपान में।**''

मुनिराज दिन में एक बार ही आहार लेते हैं, वह भी भरपेट नहीं, अल्पाहार ही लेते हैं और वह भी खड़े-खड़े अपने हाथ में ही।

ऐसा क्यों है, खड़े-खड़े ही क्यों ? बैठकर शान्ति से दो रोटियाँ खा लेने में क्या हानि है ? हाथ में ही क्यों, थाली में जीमने में भी क्या दिक्कत है ? इसीप्रकार एक बार ही क्यों, बार-बार क्यों नहीं, अल्पाहार ही क्यों, भरपेट क्यों नहीं ?

यह कुछ प्रश्न हैं, जो लोगों के हृदय में उत्पन्न होते हैं।

वनवासी मुनिराज नगरवासी गृहस्थों की संगति से जितने अधिक बचे रहेंगे, उतनी ही अधिक आत्मसाधना कर सकेंगे। इसीकारण वे नगरवास का त्याग करते हैं, वन में रहते हैं, मनुष्यों की संगति की अपेक्षा वनवासी पशु-पक्षियों की संगति उन्हें कम खतरनाक लगती है;

क्योंकि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भले ही थोड़ी-बहुत शारीरिक पीड़ा पहुँचावें, पर वे व्यर्थ की चर्चाएँ कर उपयोग को खराब नहीं करते। गृहस्थ मनुष्य तो व्यर्थ की लौकिक चर्चाओं से उनके उपयोग को भ्रष्ट करते हैं। जिस राग-द्वेष से बचने के लिये वे साधु हुये हैं, उन्हें ये गृहस्थ येनकेनप्रकारेण उन्हीं राग-द्वेषों में उलझा देते हैं। तीर्थों के उद्धार के नाम पर उनसे चन्दे की अपील करावेंगे, पंच-पंचायतों में उलझावेंगे, उनके सहारे अपनी राजनीति चलायेंगे, उन्हें भी किसी न किसी रूप में अपनी राजनीति में समायोजित कर लेंगे।

इन गृहस्थों से बचने के लिये ही वे वनवासी होते हैं; पर आहार एक ऐसी आवश्यकता है कि जिसके कारण उन्हें इन गृहस्थों के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। अत: सावधानी के लिए उक्त नियम रखे गये हैं। एक तो यह कि जब आहार के विकल्प से नगर में आते हैं तो मौन लेकर आते हैं, दूसरे खड़े-खड़े ही आहार करते हैं; क्योंकि गृहस्थों के घर में बैठना उचित प्रतीत नहीं होता। गृहस्थों का सम्पर्क तो जितना कम हो, उतना ही अच्छा है। दूसरों से कटने का मौन सबसे सशक्त साधन है; वे उसे ही अपनाते हैं।

दूसरे, इन्हें इतनी फुर्सत कहाँ है कि बैठकर शान्ति से खावें। उन्हें तो शुद्ध सात्विक आहार से अपने पेट का खड्ढ़ा भरना है, वह भी आधा-अधूरा। शान्ति से बैठकर धीरे-धीरे भरपेट खाने में समय बर्बाद करना इष्ट नहीं है। जब हम किसी काम की जल्दी में होते हैं तो कहाँ ध्यान रहता है स्वाद का ? उन्हें भी गृहस्थ के घर से भागने की जल्दी है, सामायिक में बैठने की जल्दी है; आत्मसाधना करने की जल्दी है।

बच्चों का मन भी जब खेल में होता है तो वे भी कहाँ शान्ति से बैठकर खाते हैं। माँ के अति अनुरोध पर खड़े-खड़े थोड़ा-बहुत खाकर खेलने भागते हैं। मन तो खेल में है, उन्हें खाने की फुर्सत नहीं।

उसीप्रकार हमारे मुनिराजों का मन तो आत्मध्यान में है, उन्हें शान्ति से बैठकर खाने की फुर्सत कहाँ है ?

इसीप्रकार भरपेट खाने के बाद आलस का आना स्वाभाविक ही है। अतः जिन मुनिराजों को आहार से लौटने पर ६ घड़ी तक सामायिक करनी है, उन्हें प्रमाद बढ़ानेवाला भरपेट भोजन कैसे सुहा सकता है ?

जब छात्रों की परीक्षाएँ होती हैं, इसकारण उन्हें देर रात तक पढ़ना होता है तो वे भी शाम का भोजन अल्प ही लेते हैं। इसकारण मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्त्विक अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिये नहीं जीते, जीने के लिये आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायेगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्मसाधना में भी बाधा पड़ेगी। अतः वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा ? बस एक ग्रास ही न ? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती।

एक बात यह भी है कि उसमें भक्तगण अपने वैभव को प्रदर्शित किये बिना नहीं रहते। यदि महाराज थाली में खाने लगें तो कोई चाँदी की थाली में खिलायेगा, कोई सोने की थाली में।

दिगम्बर वीतरागी भगवान को भी हम सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात से सजाने लगे हैं। यदि दिगम्बर लोग उनके तन पर कोई गहना-कपड़ा नहीं सजा सकते तो वे उनके परिकर को सजावेंगे। छत्र-चँवरों के माध्यम से उन्हें जगमगा देंगे। जिन्हें तुच्छ जानकर वे त्याग कर आये हैं, उन्हीं को उनके चारों ओर सजावेंगे।

रागियों की प्रवृत्तियाँ रागमय ही होती हैं, वैरागी और वीतरागी मुनिराजों को वे वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ कैसे सुहा सकती हैं ? यह रहस्य है उनके करपात्री होने का।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज जब आहार लेकर वापिस लौटते हैं तो उन्हें आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर चर्या के काल में मन-वचन-काय की क्रिया में कुछ दोष लग गया हो, तो वह सब भी बताकर प्रायश्चित लेना होता है।

भोजन की चर्या के बाद ही यह सब क्यों ?

इसलिए कि आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है।

इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम साधुओं के लिये कितना खतरनाक है ? इसी की विशुद्धि के लिये यह नियम रखा गया है कि आहारचर्या के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित करें।

इस बात को ध्यान में रखकर वीतरागी साधुओं को गृहस्थों के समागम से बचने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये। गृहस्थों का भी यह कर्तव्य है कि वे भी मुनिराजों को जगत के प्रपंचों में न उलझावें।

यदि उन्हें उनका सत्समागम मिल जाता है तो उनसे वीतरागी चर्चा ही करना चाहिये, तत्त्वज्ञान समझने का ही प्रयास करना चाहिये।

मुनिराज उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। उनकी वृत्ति को मधुकरी

वृत्ति कहा गया है। जिसप्रकार भौंरा या मधुमक्खी जिन फूलों से मधु ग्रहण करती है, रस ग्रहण करती है; वह उसे रंचमात्र भी क्षति न हो जावे – इस बात का ध्यान रखती है। वे पुष्प का रस लेते समय इतना ध्यान रखते हैं कि उस पर अपना वजन भी नहीं डालते, भिनभिनाते रहते हैं, उड़ते रहते हैं और अत्यन्त बारीक अपने डंक से इसप्रकार रस चूसते हैं कि पुष्प का आकार भी नहीं बिगड़ता, वह एकदम जैसा का तैसा बना रहता है। उसीप्रकार मुनिराज भी, जिसके यहाँ आहार लेते हैं, उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचे, ऐसा नहीं होने देते। अत: उनके उद्देश्य से बनाये गये आहार को ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ ने जो आहार स्वयं के लिये बनाया, उसमें से ही वह मुनिराज के लिये देवे, वही ग्रहण करते हैं। मुनिराजों के उद्देश्य से बनाये गये आहार में जो आरंभी हिंसा होती है, उसका भागी मुनिराज को बनना होगा; इसकारण मुनिराज नहीं चाहते कि कोई उनके उद्देश्य से आहार बनावे। यही कारण है कि वे उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं।[१]''

इसके बाद मुनिराजों की वृत्ति और प्रवृत्ति का चित्रण इसप्रकार किया गया है –

अरि-मित्र महल-मसान, कंचन-कांच निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन में, सदा समता धरन।।

मुनिराजों की वृत्ति और प्रवृत्ति प्रत्येक परिस्थिति में समताभावरूप ही रहती है। वे मुनिराज शत्रु के साथ द्वेष और मित्र के साथ राग नहीं करते, महल में राग और मसान (मरघट) में द्वेष नहीं रखते, कंचन और काँच में भी भेद नहीं रखते। इसीप्रकार भगवान समझकर अर्घ्य चढ़ानेवाले और शत्रु समझकर तलवार का प्रहार करनेवालों पर भी राग-द्वेष नहीं रखते, साम्यभाव ही रखते हैं।

न केवल यही, मुनिराजों की और भी अनेक विशेषतायें होती हैं; जिनमें कुछ इसप्रकार हैं –

१. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ : ५८-६२

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरैं, चहैं नहिं भव-सुख कदा।।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।।

वे मुनिराज अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश – ये ६ बाह्य तप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान – ये ६ अंतरंग तप – इसप्रकार कुल मिलाकर १२ तपों को तपते हैं।

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य – इन १० धर्मों को धारण करते हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का सेवन करते हैं।

यदि १० धर्मों और १२ तपों के बारे में विशेष जानने की इच्छा हो तो लेखक की अन्य कृति '**धर्म के दशलक्षण**' का स्वाध्याय करना चाहिये; क्योंकि उसमें १० धर्मों की चर्चा तो बहुत विस्तार से लगभग २०० पृष्ठों में है ही; साथ में उत्तम तपधर्म के सन्दर्भ में १२ तपों की चर्चा भी १९ पृष्ठों में है।

वे मुनिराज या तो मुनिसंघ में रहते हैं या अकेले ही विहार करते रहते हैं और संसार के सुखों को वे कभी भी नहीं चाहते।

इसप्रकार यह सकलसंयम चारित्र है और अब स्वरूपाचरण चारित्र के संबंध में चर्चा करते हैं। हे भव्यजीवो ! तुम उसे ध्यान से सुनो; क्योंकि उसके होने पर अपनी निधि प्रगट हो जाती है और परसंबंधी समस्त प्रवृत्तियाँ मिट जाती हैं, विलय को प्राप्त हो जाती हैं।

इसप्रकार छठवीं ढाल के पूर्वार्द्ध में समागत सकलचारित्र की चर्चा से विराम लेते हैं। अब स्वरूपाचरण चारित्र की चर्चा करेंगे। ●

सातवाँ प्रवचन

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै।।

छहढाला की छठवीं ढाल में प्रतिपादित मुनिधर्म के स्वरूप की चर्चा चल रही है। उसमें सकल संयम की बात हुई; अब स्वरूपाचरण चारित्र की बात आरंभ करते हैं।

यदि अपने स्वरूप में आचरण का नाम ही स्वरूपाचरण है तो फिर सबसे पहले अपने स्वरूप को समझना होगा।

भगवान आत्मा का वास्तविक स्वरूप पर से भिन्न, पर्याय से भिन्न और गुणभेद से भी भिन्न अभेद अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभाव ही है। इसलिये उसे जानकर, उसमें ही अपनापन स्थापित कर, उसमें ही जम जाना, रम जाना, समा जाना स्वरूपाचरण चारित्र है।

यद्यपि स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान से ही आरंभ हो जाता है; तथापि यहाँ प्रसंग मुनिधर्म का है; इसलिये यहाँ सकल संयम के साथ रहनेवाले स्वरूपाचरण की ही बात करते हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी के चले जाने से जो निर्मल परिणति उत्पन्न होती है; उसे मुनिराजों की शुद्ध परिणति कहते हैं और उक्त शुद्ध परिणतिपूर्वक जब उपयोग भी अन्तर्मुख होता है तो उसे शुद्धोपयोग कहते हैं।

इसप्रकार जब परिणति और उपयोग दोनों ही शुद्ध होते हैं; तब जो स्थिति बनती है, उस स्थिति का नाम ही स्वरूपाचरण चारित्र है। वह

सातवें गुणस्थान में और उसके आगे होता है। किन्तु जब उपयोग बहिर्मुख हो जाता है, पर तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धता कायम रहती है; उस समय जिसप्रकार के शुभभाव और शुभाचरण होता है; उस शुद्धात्मपरिणति के साथ होनेवाले उन शुभभावों और उस शुभाचरण का नाम व्यवहारचारित्र या सकलसंयम है।

बाह्य में २८ मूलगुणों के पालने की भावनारूप शुभभाव और २८ मूलगुणों के पालनरूप आचरण व्यवहारचारित्र है और इसी समय जो तीन कषाय के अभावरूप निर्मल परिणति है; उसमें भी उन मूलगुणों को निश्चय से घटित किया जा सकता है।

स्वरूपाचरण की महिमा बताते हुये विगत छन्द में कहा था कि –

जिस होत प्रगटे आपनी निधि, मिटे पर की प्रवृत्ति सब।

पर के लक्ष्य से अपने में उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति ही परप्रवृत्ति है और अपना आत्मस्वभाव ही अपनी निधि है। स्वरूपाचरणचारित्र के होने पर पर के लक्ष्य से अपने में होनेवाली परप्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और आत्मस्वभाव प्रगट हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि अपनी निधि तो अपने में ही है; उसे कहीं बाहर से नहीं लाना है। उसे लाना नहीं है, प्रगट करना है। उस आत्मस्वभाव रूप निधि को जानना ही उस निधि को पाना है, प्रगट करना है।

उक्त स्वरूपाचरण चारित्र से ही परप्रवृत्ति मिटकर अपने आत्म-स्वभाव को जाननेरूप निधि प्रगट हो जाती है। इसप्रकार पर से निवृत्ति और स्व में प्रवृत्ति ही स्वरूपाचरण चारित्र है।

जिस स्वरूपाचरण चारित्र के होने पर पर की प्रवृत्ति मिट जाती है और अपनी निधि प्रगट हो जाती है; अब उस शुद्धोपयोगरूप स्वरूपाचरण चारित्र की बात करते हैं –

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया।।
निज माहिं निज के हेतु, निज कर आपको आपै गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ।।
जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एकै लसा।।
परमाण-नय-निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग-ज्ञान-सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विषै।।
मैं साध्य-साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित्पिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुणकरण्ड, च्युति पुनि कलनि तैं।।

जिन्होंने अत्यन्त तीक्ष्ण सुबुद्धिरूपी छैनी को अन्तर में डालकर वर्णादि परपदार्थों और रागादि विकारी भावों को भेद कर इनसे निज भगवान आत्मा को न्यारा किया अर्थात् न्यारा जानकर अपने में ही, अपने लिये, अपने द्वारा, अपने को, अपने आप ग्रहण कर लिया; तब गुण-गुणी में तथा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय में कुछ भी अन्तर नहीं रहा।

उस स्वरूपाचरण चारित्र अर्थात् शुद्धोपयोग की निश्चल दशा में ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेदरूप विकल्प नहीं रहता, वचन का विकल्प भी नहीं रहता। वहाँ कर्त्ता, कर्म और क्रिया का भेद भी नहीं रहता; क्योंकि चिद्भाव ही कर्म है, चिदेश कर्ता है और चेतना क्रिया है – इसप्रकार ये तीनों अभिन्न हैं, अखिन्न हैं अर्थात् खेद से रहित हैं।

शुद्धोपयोग में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की ऐसी दशा प्रगट हुई कि जिसमें ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन होकर भी एकरूप में ही शोभायमान हो रहे हैं; अनेकाकार न होकर एकाकार हो रहे हैं।

अनुभव अर्थात् शुद्धोपयोग के काल में प्रमाण, नय और निक्षेपों

का उद्योत भी नहीं होता। अनुभव में तो ऐसा भासित होता है कि मैं तो सदा ही दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय हूँ और अन्य कोई भाव मुझ में नहीं है। मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और मैं कर्म और उसके फलों से अबाधक हूँ; प्रचण्ड चैतन्य का पिण्ड हूँ, अखण्ड हूँ और सुगुणों का करण्ड (पिटारा) हूँ और पर्यायों में होनेवाले उतार-चढ़ाव से रहित हूँ।

जिसप्रकार चन्द्रमा में सोलह कलायें होती हैं; वह प्रतिदिन घटता-बढ़ता रहता है, एक-सा नहीं रहता। यही स्थिति संसार अवस्था में पर्यायों की है; वे कभी भी एक-सी नहीं रहती; परन्तु दृष्टि का विषयभूत यह भगवान आत्मा उन पर्यायों के उतार-चढ़ाव से रहित है।

यदि परप्रवृत्ति से निवृत्ति और स्वरूप में प्रवृत्ति ही स्वरूपाचरण है तो इसे प्राप्त करने के लिये स्व और पर के बीच भेदविज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि स्व और पर के बीच की सीमारेखा जाने बिना पर से निवृत्त होना और स्व में प्रवृत्त होना संभव नहीं है।

इसलिये यहाँ कहा गया है कि वर्णादि अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्शवाले देहादि पौद्‌गलिक पदार्थों और परलक्ष्य से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप भावों से निजभाव अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभावी निजात्मा को अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से भिन्न पहिचान लिया है, भिन्न जान लिया है।

समयसार कलश में भी कहा है –

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।[१]

वर्णादि और रागादिरूप सभी भाव (पदार्थ) भगवान आत्मा से भिन्न ही हैं।

समयसार परमागम के जीवाजीवाधिकार में वर्णादि में २० प्रकार के पदार्थ लिये हैं और रागादि भाव में ९ प्रकार के विकारी भाव

१. समयसार कलश ३७

लिये हैं। पर और पर्याय से भिन्न भगवान आत्मा उक्त २९ प्रकार के भावों से भिन्न है। यही भगवान आत्मा दृष्टि का विषय है, परमशुद्ध निश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय है और ध्यान का ध्येय है। इसी भगवान आत्मा के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, इसे जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

आत्मा ने यह कार्य न तो दूसरों से कराया है और न दूसरों के सहयोग से किया है; अपितु पर से भिन्न अपने आत्मा को, अपने लिये, अपने में, अपने द्वारा स्वयं ही ग्रहण किया है अर्थात् जान लिया है।

यह जान लिया है कि यह ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा मैं ही हूँ।

जब यह आत्मानुभवन की प्रक्रिया चलती है; तब ऐसे विकल्प नहीं उठते कि ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है; आत्मा ज्ञाता है, जानना ज्ञान है और जो जानने में आ रहा है, वह आत्मा ज्ञेय है।

तात्पर्य यह है कि उक्त स्वरूपाचरण की अवस्था में गुण-गुणी और ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प खड़े नहीं होते।

जिसप्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प खड़े नहीं होते; उसीप्रकार ध्यान-ध्याता-ध्येयसंबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते; वचनसंबंधी विकल्प खड़े नहीं होते। कर्ता-कर्म-क्रिया के सन्दर्भ में भी यही स्थिति है; क्योंकि चिदेश आत्मा कर्त्ता है, चिद्‌भाव (ज्ञान-दर्शन) कर्म है और चेतना (जानना-देखना) क्रिया है। एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर होने से तीनों एक ही हैं, एक आत्मा ही हैं। शुद्धोपयोग अर्थात् स्वरूपाचरण की दशा में तीनों अभिन्न ही हैं; इसलिये अखिन्न हैं; किसी प्रकार की खिन्नता शुद्धोपयोग के समय नहीं होती।

शुद्धोपयोग में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐसी निश्चल दशा प्रगट हो गई है कि जिसमें ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन होकर भी एकरूप में ही शोभायमान हो रहे हैं।

अनुभूति के काल में प्रमाण-नय-निक्षेप का उदय भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रमाण-नय-निक्षेप संबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते। उसमें तो ऐसा भासित होता है कि मैं तो सदा ही ज्ञान, दर्शन, सुख और बलमय हूँ; इनके अतिरिक्त कोई अन्य भाव मुझमें नहीं है।

मैं ही साध्य हूँ और मैं ही साधक हूँ तथा कर्म और कर्मफलों से मैं सदा ही अबाधक हूँ। तात्पर्य यह है कि मुझमें साध्य-साधक का भी भेद नहीं है, विकल्प नहीं है और कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की बाधा नहीं है; क्योंकि मैं तो ज्ञानचेतनारूप हूँ। मैं चैतन्य का पिण्ड हूँ, प्रचण्ड हूँ, अखण्ड हूँ और गुणों का पिटारा हूँ तथा सभी प्रकार के विकारी भावों से रहित हूँ।

देशनालब्धि में गुरुमुख से सुनकर किये गये निर्णय के अनुसार पहले विकल्प की भूमिका में ऐसे विकल्प चलते थे कि मैं ही ज्ञान हूँ, मैं ही ज्ञाता हूँ, मैं ही ज्ञेय हूँ; मैं ही ध्यान हूँ, मैं ही ध्याता हूँ और मैं ही ध्येय हूँ; मैं ही कर्त्ता हूँ, मैं ही कर्म हूँ, मैं ही करण हूँ, मैं ही सम्प्रदान हूँ, मैं ही अपादान हूँ और मैं ही अधिकरण हूँ; मैं प्रमाण का विषय हूँ या शुद्धनय का विषय हूँ, मैं प्रत्यक्ष हूँ या परोक्ष हूँ; किन्तु अनुभव के काल में उक्त सभी विकल्पजाल समाप्त हो जाता है और एक अचल, अखण्ड, अभेद, निर्विकल्प भगवान आत्मा ही एकमात्र मैं हूँ – इसप्रकार का विकल्पों से रहित अनुभव (ज्ञान) रह जाता है। इस निर्विकल्पज्ञान के ज्ञेयभूत भगवान आत्मा में 'यह मैं हूँ' – ऐसा अपनापन बना रहता है और ध्यान का ध्येय भी वही अभेद-अखण्ड आत्मा बना रहता है। – इसी का नाम अनुभव है, शुद्धोपयोग है और स्वरूपाचरण है।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि जब यह आत्मा शुद्धोपयोग में रहेगा; तब वाणी से स्तुति करना और काया से नमस्कार (वंदना) करना आदि छह आवश्यकों का पालन कैसे होगा ?

उनका पालन तो आवश्यक ही है; क्योंकि उनका नाम ही आवश्यक है और वे छह आवश्यक मुनियों के मूलगुणों में हैं। मूलगुण का अर्थ भी यही है कि मुनियों के जीवन में ये गुण होते ही हैं, होना ही चाहिये।

उनसे कहते हैं कि कार्य तीन प्रकार के होते हैं – १. आवश्यक, २. परमावश्यक और ३. अनावश्यक। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य परमावश्यक कार्य है, जिसे करने के लिये आवश्यक कार्यों को भी छोड़ा जा सकता है; क्योंकि मुनिधर्म में जो कुछ किया जाता है, वह सब एकमात्र इसी की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है।

जब यह परमावश्यक कार्य सफल हो जाता है, अरहंत दशा प्राप्त हो जाती है तो फिर आवश्यक कार्य भी अनावश्यक हो जाते हैं। अरहंत अवस्था में तो ये आवश्यक रहते ही नहीं है; किन्तु शुद्धोपयोग के काल में भी नहीं रहते। जब मुनिराज बाहुबली ध्यान में एक वर्ष तक खड़े रहे, तब वाणी से स्तुति करना, काया से वंदना करना आदि आवश्यक कहाँ किये जा सके? तो क्या वे उन आवश्यक कार्यों के नहीं करने से सच्चे मुनि नहीं रहे ? हाँ यदि वे उन आवश्यक कार्यों को छोड़कर अनावश्यक कार्यों में उलझ जाते तो अवश्य ही उनका मुनिधर्म संकट में पड़ जाता।

गृहस्थ अवस्था में भी जब हम सामायिक कर रहे होते हैं; तब यदि कोई अतिथि या मुनिराज आ जावें तो क्या सामायिक छोड़कर उनकी वंदना आदि में प्रवृत्ति करते हैं, करना चाहिये क्या ?

मुनिराजों को तो दो कार्य ही करने योग्य हैं। प्रथम आत्मध्यानरूप परमावश्यक कार्य और दूसरा छह आवश्यकों के पालनरूप शुभभाव।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं –

ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते।[१]

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक क्रमांक : १०

ज्ञान माने स्वाध्याय और ध्यानरूप तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसा के योग्य हैं। ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि ज्ञान, ध्यान और तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसा योग्य हैं; किन्तु ज्ञान अर्थात् स्वाध्याय और ध्यान – ये दोनों तप ही तो हैं; अत: यही ठीक है कि स्वाध्याय और ध्यान नामक तप में रक्त तपस्वी ही प्रशंसा योग्य हैं।

आचार्य समन्तभद्र के उक्त कथन में ध्यानरूप शुद्धोपयोग और अध्ययन-अध्यापनरूप शुभोपयोग पर ही विशेष बल दिया गया है।

यह तो आप जानते ही हैं कि छह आवश्यकों में श्रुतिरति अर्थात् स्वाध्याय नामक तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

इसप्रकार मुनिराजों के लिये तो स्वाध्यायरूप आवश्यक और ध्यानरूप परमावश्यक – इन दो पर ही अधिक वजन है।

पर आज तो स्थिति यह है कि मुनि-अवस्था में जो कार्य करनेयोग्य भी नहीं है; उन अनावश्यक कार्यों से ही उन्हें फुर्सत नहीं है; तब आवश्यक और परमावश्यक कार्य कब किये जायें ? जो भी हो, पर वस्तुस्थिति तो जो है, सो है; उसमें क्या किया जा सकता है ?

यद्यपि शुभभाव भी मुनिराजों के जीवन में होते हैं, हो भी सकते हैं; पर उनके जीवन में उक्त छह आवश्यकरूप शुभभाव ही हो सकते हैं। मन्दिर बनवाने आदि के आरंभजनित भाव भी यद्यपि शुभभाव हैं; पर ये शुभभाव गृहस्थ के तो हो सकते हैं, पर मुनिराजों के नहीं। मुनिराजों के लिये ये कार्य अनावश्यक ही हैं।

जब वे इसप्रकार के आरंभजनित कार्यों की अनुमोदना भी नहीं कर सकते तो फिर करना-कराना तो बहुत दूर की बात है।

इसके बाद शुद्धोपयोगरूप स्वरूपाचरण चारित्र की इस दशा का फल बताते हुये कविवर दौलतरामजी लिखते हैं –

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यौ।।
तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउ घाति विधि कानन दह्यौ।
सब लख्यौ केवलज्ञान करि, भविलोक कों शिवमग कह्यौ।।

इसप्रकार का चिन्तन करके जो जीव अपने में स्थिर हो गये; उन्होंने जिसप्रकार का आनन्द लिया; उसका कथन करना अशक्य है; क्योंकि इसप्रकार का आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) और अहमिन्द्रों को भी प्राप्त नहीं है।

यह क्षपकश्रेणी की दशा का वर्णन है; क्योंकि आगे की पंक्तियों में लिखा है कि उसी समय शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा चार घातियाकर्मरूपी जंगल को जला दिया, उसी समय केवलज्ञान हो गया और केवलज्ञान के द्वारा सबकुछ देख लिया गया, जान लिया गया। उसके बाद भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह ७वें गुणस्थान से १३वें गुणस्थान तक का विवेचन है; क्योंकि क्षपक श्रेणी का आरोहण ७वें गुणस्थान में होता है और दिव्यध्वनि १३वें गुणस्थान में खिरती है।

यह शुद्धोपयोगरूप स्वरूपाचरण चारित्र का विवेचन है; जिसके फल में चार घातियाँ कर्मों का अभाव होकर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त अरहंत अवस्था प्राप्त होती है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इन्द्र, अहमिन्द्र और चक्रवर्ती भी तो सम्यग्दृष्टी होते हैं; उन्हें भी अनुभवजन्य अतीन्द्रिय सुख प्राप्त है; अत: यह कहना कि –

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यौ।।

कहाँ तक उचित है ?

इसका सीधा सहज उत्तर यह है कि यहाँ सातवें गुणस्थान के ऊपर की बात चल रही है और इन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र चौथे गुणस्थान में होते हैं। सातवें गुणस्थान के ऊपर जैसा व जितना आनन्द प्राप्त है; वैसा और उतना आनन्द चौथे गुणस्थानवाले इन्द्रादिक को नहीं है।

यहाँ कोई कह सकता है कि चक्रवर्ती भी दीक्षा लेकर मुनिराज बन सकते हैं और श्रेणी भी चढ़ सकते हैं; अत: उन्हें भी इसप्रकार का आनन्द नहीं हो सकता – यह कैसे कहा जा सकता है ?

उससे कहते हैं कि जब चक्रवर्ती दीक्षा ले लेंगे, तब वे मुनिराज हो जायेंगे, चक्रवर्ती नहीं रहेंगे; क्योंकि चक्रवर्तित्व छोड़े बिना कोई मुनिराज बन ही नहीं सकता। चक्रवर्ती अवस्था में तो वे चौथे गुणस्थान में ही रहते हैं।

एक अर्थ ऐसा भी किया जा सकता है कि आत्मानुभूति का सुख चक्रवर्ती और इन्द्रादि को प्राप्त भोगों के सुख से अलग जाति का है। कहा भी है कि –

चक्रवर्ती की सम्पदा अर इन्द्र सारिखे भोग।
काकबीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मानुभवी लोगों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति और इन्द्रों के भोगों की कोई कीमत नहीं है।

सीधासादा भाव यह है कि सन्तों ने जो, जैसा और जितना सुख शुद्धोपयोग के काल में पाया है; वह, वैसा और उतना सुख इन्द्रों और चक्रवर्तियों को भोगों के भोगने से प्राप्त नहीं होता।

उक्त छन्द की तीसरी और चौथी पंक्ति में संकेत दिया है कि सबसे पहले वीतरागता प्राप्त की, फिर केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया। इसका सीधा सादा अर्थ यह है कि वे क्रमशः वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी बने।

सच्चे देव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उक्त तीन बातों को अनिवार्य बताते हैं –

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

आप्त (सच्चे देव) को वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होना चाहिए, नहीं तो वह आप्त नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ भगवान का अनन्त सुखी होना उनकी वीतरागता के कारण है; क्योंकि सर्वज्ञ कहते ही उसे हैं; जो सम्पूर्ण जगत को जानकर भी अप्रभावित रह सके और सारे जगत को अप्रभावित रह कर जान सके।

जबतक मोह-राग-द्वेष हैं; तबतक इस जीव के जानने में जो कुछ भी आता है; उनमें से कुछ को अपना जानकर उनसे राग करने लगता है और कुछ को पराया या पर जानकर उनसे द्वेष करने लगता है। अनुकूलों से राग और प्रतिकूलों से द्वेष करना इस संसारी प्राणी की नियति है; जबकि इस लोक में न तो कोई परपदार्थ अनुकूल है और न कोई प्रतिकूल।

एक भव के स्त्री-पुत्रादि, माँ-बाप और मित्रों को दुखी देखकर यह संसारी प्राणी निरन्तर आकुल-व्याकुल रहता है। उनके अनुकूलों को मित्र और उनके प्रतिकूलों को शत्रु मानकर राग-द्वेष की आग में जलता रहता है।

कल्पना करो कि यदि वीतरागता के बिना ही सर्वज्ञता प्रगट हो जाती तो क्या होता ?

सर्वज्ञ हो जाने से इसके ज्ञान में अनन्त भवों के माँ-बाप और पत्नी-पुत्रादि आ जाते और वे वर्तमान में न जाने किस हालत में होते ?

उनमें से कोई नरकों में भी हो सकता है, कोई तिर्यंच गति में हो सकता है। यह भी हो सकता है कि कोई उसे मारकर खा रहा हो। यदि कोई माँ-बहिन मनुष्यगति में हुई; पर वहाँ उसकी इज्जत लूटी जा रही हो।

कुछ भी हो सकता है; क्या यह सब आपसे देखा जायेगा ?

नहीं, तो फिर आप उनकी रक्षा के लिए क्या करेंगे ? वस्तुस्थिति तो यह है कि आप ही क्या, किसी का कोई भी कुछ कर ही नहीं सकता।

सर्वज्ञ हो जाने पर नहीं देखना भी संभव नहीं है और देखकर भी कुछ कर नहीं सकते। ऐसी स्थिति में आपके मन की स्थिति क्या होती ? इसकी कल्पना आप कर सकते हैं।

यही कारण है कि वस्तु के स्वरूप में यह सुन्दरतम व्यवस्था है कि पहले वीतरागता होती है और बाद में सर्वज्ञता। वीतरागता होने से सबकुछ जानने में आने पर भी कोई आकुलता-व्याकुलता नहीं होती।

वीतरागी और सर्वज्ञ होने के बाद दिव्यध्वनि के द्वारा उनका उपदेश होता है; जो परमसत्य का उद्घाटक होता है।

या तो कोई अज्ञान के कारण असत्य बोलता है या फिर रागद्वेष के कारण। जब सर्वज्ञ भगवान ने सबकुछ सहीरूप में जान लिया है और उन्हें किसी से कोई राग-द्वेष भी नहीं है तो फिर वे असत्य क्यों बोलेंगे ?

यही कारण है कि परम सत्य का उद्घाटन करनेवाली उनकी वाणी हितकारी होती है; इसीकारण उन्हें हितोपदेशी कहा जाता है।

पहले वीतरागी, फिर सर्वज्ञ और अन्त में हितोपदेशी – इन विशेषताओं की उत्पत्ति का यही क्रम है।

इसके बाद सिद्धदशा का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कविवर लिखते हैं –

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिन माहिं अष्टम भू बसैं।
वसु कर्म विनसै सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं॥
संसार खार अपार, पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये॥
निज माहिं लोक अलोक, गुण-परजाय प्रतिबिम्बित भये।
रहि हैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये॥

धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया।
तिन ही अनादि भ्रमण पंच प्रकार, तजि वर सुख लिया।।

इसके बाद शेष बचे चार अघातिया कर्मों का घात करके एक क्षण में आठवीं पृथ्वी सिद्धशिला पर विराजमान हो गये, आठ कर्मों के नाश से सम्यक्त्व आदि आठ सुगुणों से शोभायमान हो गये और खारे जल से भरे हुये इस अपार संसाररूप सागर से पार होकर सिद्धशिला पर विराजमान हो गये। वहाँ सर्व विकारों और देह से रहित, अरूपी, परम पवित्र और चैतन्यरूप अविनाशी पद को प्राप्त हो गये।

जब सिद्धदशा प्राप्त हो गई, केवलज्ञान हो गया; तब उनके उस केवलज्ञान में अलोकाकाश सहित लोक के छह प्रकार के अनन्त द्रव्य और उनमें से प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्यायें एक साथ प्रतिबिम्बित हो गईं।

इसप्रकार सिद्धदशारूप परिणमित सिद्ध भगवान अनन्तानन्त काल तक इसीप्रकार परिणमित होते रहेंगे।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ ऐसा नहीं लिखा कि उन्होंने केवलज्ञान से सबकुछ जान लिया, अपितु यह लिखा है कि सम्पूर्ण लोकालोक उनके ज्ञान रूपी दर्पण में प्रतिबिंबित हो गये।

जिसप्रकार निर्मल दर्पण में उसके सामने आनेवाले सभी पदार्थ झलक जाते हैं; उसीप्रकार उनके ज्ञानदर्पण में सभी पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों के साथ झलक गये। इसके लिए जिसप्रकार दर्पण को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता; उसीप्रकार समस्त ज्ञेयों को जानने के लिए ज्ञान को भी कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता; सहजभाव से ही सभी पदार्थ उनके जानने में आ जाते हैं।

इतना अन्तर है कि दर्पण में तो सामने के पदार्थ ही आते हैं, पर

ज्ञानदर्पण में तो अलोकाकाश सहित तीनलोक में कोई भी पदार्थ कहीं भी क्यों न हो, सभी पदार्थ झलक जाते हैं। न केवल सभी पदार्थ, अपितु उनकी वे सभी पर्यायें भी, जो होकर नष्ट हो चुकी हैं या अभी हुई ही नहीं हैं, भविष्य में होंगी; झलक जाती हैं अर्थात् सहजभाव से जानने में आती रहती हैं।

वस्तुत: स्थिति यह है कि न तो ज्ञेयों को जानने के लिए ज्ञान उनके पास जाता है और न ज्ञेय ही ज्ञान के पास आते हैं; सभी अपने-अपने स्थान पर अपने में ही रहते हैं; फिर भी सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञान में निरन्तर जानने में आते रहते हैं। ऐसा ही कोई ज्ञान का और ज्ञेयों का सहज स्वभाव है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञेयों को जानने में न तो ज्ञान को कोई पराधीनता है और न ज्ञान में जाने जाने से ज्ञेयों को भी कोई पराधीनता होती है।

जब उनके केवलज्ञान में सभी द्रव्य अपने गुण और उनकी भूतकालीन, वर्तमान और भविष्य में होनेवाली सभी पर्यायें झलक गईं, ज्ञात हो गईं तो फिर वे सभी पर्यायें सुनिश्चित भी होना चाहिये।

जिसप्रकार भूतकालीन पर्यायों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार भविष्य में होनेवाली पर्यायों में भी किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं।

यदि इस विषय में विशेष जानने की इच्छा हो तो लेखक की अन्य कृति '**क्रमबद्धपर्याय**' का अध्ययन किया जाना चाहिये।

जो कहानी '**काल अनन्त निगोद मंझार**' से आरंभ हुई थी; वह कहानी अब '**रहिहैं अनन्तानन्त काल**' पर समाप्त हो रही है।

वास्तव में देखा जाय तो यह कहानी तो अनादि-अनन्त है; न तो कभी आरंभ हुई थी और न कभी इसका अन्त होगा; क्योंकि कहानी

का नायक भगवान आत्मा अनादि-अनन्त है। फिर भी यह कहानी निगोद में लगभग एक-सी ही चली और मोक्ष में भी सदा एक-सी ही चलेगी; अतः कहने की दृष्टि से तो कहानी समाप्त ही हो गई; क्योंकि कुछ नया-नया परिवर्तन होता है तो कहानी कहने में आती है, अब कुछ नया नहीं होना है; इसलिये ऐसा लगता है कि कहानी का अन्त हो गया है; क्योंकि अब वे सिद्ध भगवान तो अनन्त काल तक इसीप्रकार अनन्त सुख भोगते रहेंगे।

इस छन्द की अन्तिम दो पंक्तियों में कवि उन लोगों को धन्यवाद दे रहे हैं कि जिन लोगों ने यह महान कार्य सम्पन्न कर लिया है।

वे कहते हैं कि वे जीव धन्य हैं, धन्य हैं कि जिन्होंने मनुष्य गति और उसमें पुरुषपर्याय प्राप्त करके सिद्धदशा प्राप्त करने का यह महान कार्य सम्पन्न कर लिया है; उन्होंने ही पंचपरावर्तनरूप अनादिकालीन भ्रमण को तजकर उत्कृष्ट सुख प्राप्त कर लिया है।

आज तो हमारी स्थिति यह हो गई है कि किसी ने एक गिलास पानी पिला दिया तो हम लाख-लाख धन्यवाद दे देते हैं।

अरे भाई ! हम धन्यवाद देने को मना नहीं करते, पर ऐसा कोई काम भी तो किया हो, जो धन्यवाद के योग्य हो। पण्डित दौलतरामजी तो एकमात्र मुक्तिमार्ग पर चलने को ही धन्यवाद के योग्य कार्य मानते हैं और मुक्ति प्राप्त कर लेने को बार-बार धन्यवाद के योग्य कार्य मानते हैं। इसीलिए यहाँ मुक्ति प्राप्त करनेवालों को दो बार धनि-धनि कहकर अनेकबार धन्यवाद दिया गया है।

इसके बाद शीघ्रातिशीघ्र आत्महित की प्रेरणा देते हुये कविवर दौलतरामजी लिखते हैं –

मुख्योपचार दुभेद यों, बड़भागि रत्नत्रय धरैं।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-मल हरैं।।

इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ॥
यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निज-पद बेइये॥
कहा रच्यो पर-पद में न तेरो पद यहै क्यों दुख सहै।
अब 'दौल' होउ सुखी स्व-पद रचि दाव मत चूको यहै॥

जिन महाभाग्यवान जीवों ने मुख्य और उपचार अर्थात् निश्चय और व्यवहार – इसप्रकार दो भेदवाले रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण किया है और धारण करेंगे; उन जीवों को मुक्ति पद की प्राप्ति अवश्य होगी और उनका उत्कृष्ट कोटि का यशरूपी जल जगत के जीवों के मोह-राग-द्वेषरूप मल को हर लेगा।

देखो, यहाँ निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय को धारण करनेवाले सन्तों को बड़भागी कहा है। पंचम ढाल के आरंभ में भी **'मुनि सकलव्रती बड़भागी'** कहकर मुनिराजों को भाग्यवान बताया गया है।

पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि इसप्रकार जानकर, प्रमाद छोड़कर, साहस ठानकर, मेरी इस शिक्षा का आदर करो कि जबतक रोग और बुढ़ापा अथवा बुढ़ापारूपी रोग तुम्हें जकड़ न ले, तबतक बहुत शीघ्रता से आत्मा का हित कर लो; क्योंकि यह रागरूपी आग तो सदा जला ही रही है; इसलिये समतारूपी अमृत का सेवन करो।

विषय-कषाय का सेवन तो चिरकाल से कर रहे हो। अरे भाई ! इन विषय-कषायों को अब तो छोड़ो और मुक्तिरूपी अपने परम पद को प्राप्त करो।

अरे भाई ! तू परपद में क्यों रच-पच रहा है, यह तेरा पद नहीं है। इसके लिये तू व्यर्थ ही क्यों अनन्त दु:खों को सह रहा है।

कविवर पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि भाई ! तुझे यह मौका मिला है, मानों तेरा दाव ही लग गया है; इसलिये तू इस दाव को किसी भी कीमत पर मत चूकना और अपने पद में, आत्मस्वभाव में रच-पचकर अनन्त सुखी हो जाना।

शब्दों का गठन तो देखो, भाषा का प्रवाह तो देखो –

इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरौ।

आपको याद होगा कवि ने आरंभ में ही कहा था कि –

कहैं सीख गुरु करुणा धार, ताहि सुनो भवि मन थिर आन

गुरुदेव करुणा करके कुछ आत्महितकारी शिक्षा दे रहे हैं; अतः हे भव्यजीवों ! तुम उसे मन को स्थिर करके ध्यान से सुनो।

यह बात आरंभ में कही थी और अब ग्रन्थ समाप्त हो रहा है; इसलिये याद दिला रहे हैं कि **यह सिख आदरो** – इस शिक्षा का आदर करो।

कोई कहे कि हम इस शिक्षा का आदर किस प्रकार करें ?

उससे कहते हैं कि भाई ! जबतक कोई महारोग नहीं लगा है और बुढ़ापा नहीं आया है, तबतक आत्मा का हित कर लो, वरना .....।

कुछ लोग कहते हैं कि धर्म करना तो बुढ़ापे का काम है; पर यहाँ यह कहकर कि जबतक बुढ़ापा नहीं आया है; तबतक आत्महित कर लो का अर्थ यह है कि आत्महित का काम जबतक स्फूर्ति रहती है; तबतक बचपन और जवानी में ही कर लेना चाहिये। बुढ़ापा भले ही समय पर आयेगा, पर रोग तो कभी भी हो सकता है और बुढ़ापा आयेगा ही – इसकी क्या गारंटी है ? यह भी तो हो सकता है कि हम बुढ़ापा आने के पहले ही चल बसें। अतः बात कल पर टालने की नहीं है। यह काम तो ऐसा है कि आज ही, अभी कर लेना चाहिये। बहाने बनाकर समय पास करने से कोई लाभ नहीं है।

अन्तिम प्रशस्ति के रूप में वे लिखते हैं –

(दोहा)

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज शुकल वैशाख।
कर्यो तत्त्व उपदेश यह, लखि 'बुधजन' की भाख॥
लघु-धी तथा प्रमाद तैं, शब्द-अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पाओ भव-कूल॥

विक्रम संवत् १८९१ में वैशाख शुक्ल तीज अर्थात् अक्षयतृतीया के दिन बुधजन कवि के छहढाला को देखकर अथवा बुद्धिमान लोगों की भाषा को देखकर यह तत्त्वोपदेश दिया है।

इसप्रकार वे इस छहढाला ग्रन्थ को तत्त्वोपदेश का ग्रन्थ मानते हैं।

अन्त में अपनी लघुता प्रगट करते हुये लिखते हैं कि अल्पबुद्धि और प्रमाद के वश होकर कहीं शब्दों के प्रयोग में अथवा पदार्थ के प्रतिपादन में कोई भूल रह गई हो तो सुधी अर्थात् बुद्धिमान लोगों से प्रार्थना है कि वे सदा गलती को सुधार कर इसको पढ़ो।

यदि आप ऐसा करोगे तो संसार समुद्र का किनारा प्राप्त कर लोगे।

अंकानाम् वामतो गतिः – अंक बाईं ओर से गमन करते हैं, चलते हैं। इस नियम के अनुसार **इक नव वसु इक** का अर्थ १८९१ होता है। इससे यह सहज ही स्पष्ट है कि इस कृति की रचना विक्रम संवत् १८९१ में हुई थी।

इसप्रकार यह छहढाला नामक आध्यात्मिक कृति का सार संक्षेप में प्रस्तुत किया। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आत्मार्थी जनों को इससे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा। ●

पुत्र-परिवार, कंचन-कामिनी एवं देह में रत जगत के इन संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता, असारता आदि के परिज्ञान की हेतुभूत बारह भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्‌भुत है। – बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ १६

पण्डित दौलतरामजी कृत

छहढाला

पहली ढाल

(सोरठा)

तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं।।

(चौपाई)

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त।
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार।।१।।
ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोह महामद पियौ अनादि, भूल आप को भरमत बादि।।२।।
तास भ्रमण की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा।
काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।।३।।
एक श्वास में अठ-दश बार, जन्म्यो-मर्‍यो भर्‍यो दुखभार।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो।।४।।
दुर्लभ लहि ज्यौं चिंतामणी, त्यौं पर्याय लही त्रसतणी।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धर-धर मर्‍यो सही बहु पीर।।५।।
कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर।।६।।
कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन।
छेदन-भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम-आतप त्रास।।७।।
बध-बन्धन आदिक दुःख घने, कोटि जीभतैं जात न भने।
अति संक्लेश भावतैं मर्‍यो घोर श्वभ्र-सागर में पर्‍यो।।८।।

तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छू सहस डसैं नहिं तिसो।
तहाँ राध-शोणित वाहिनी, कृमि-कुल कलित देह दाहिनी।।९।।
सेमर तरु दल जुत असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र।
मेरु-समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।।१०।।
तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड।
सिंधु-नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।।११।।
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ये दुःख बहु सागर लौं सहे, करम-जोग तैं नरगति लहे।।१२।।
जननी उदर बस्यो नव मास, अंग-सकुचतैं पायो त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।
बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणीरत-रह्यौ।
अर्द्धमृतक-सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।
कभी अकाम-निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै।
विषयचाह-दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।।१५।।
जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।
तहँ तैं चय थावर-तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।१६।।

दूसरी ढाल

(पद्धरि छन्द)

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चरण-वश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन, तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।
जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधै तिन माहिं विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।
पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान।।३।।

मैं सुखी-दुखी मैं रंक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।४।।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।।५।।
शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करै निजपद बिसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।।६।।
रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।
इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानों मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।।८।।
जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैं सनेह।।९।।
धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म-जल-उपल नाव।
जे राग-द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन।।१०।।
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भव-भ्रमण छेव।
रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।।११।।
जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।
याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है कुज्ञान।।१२।।
एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।
जो ख्याति-लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविध-विध देह-दाह।
आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।।१४।।
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पन्थ लाग।
जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब 'दौलत' निज आतम सुपाग।।१५।।

तीसरी ढाल

(जोगीरासा/नरेन्द्र छन्द)

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिव माहिं न तातैं, शिव-मग लाग्यो चहिए।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन शिव-मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारन सो व्यवहारो।।१।।
परद्रव्यन तैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जानपनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है।।
आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई।
अब व्यवहार मोक्ष-मग सुनिये, हेतु नियत को होई।।२।।
जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिन को, ज्यों का त्यों सरधानो।।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो।
तिनको सुन सामान्य-विशेषैं, दृढ़ प्रतीति उर आनो।।३।।
बहिरातम अन्तर-आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह-जीव को एक गिनै, बहिरातम तत्त्व मुधा है।।
उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविध संग बिन शुध-उपयोगी, मुनि उत्तम निजध्यानी।।४।।
मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टी, तीनों शिव मगचारी।।
सकल-निकल परमातम द्वैविध, तिन में घाति निवारी।
श्री अरहंत सकल परमातम, लोकालोक निहारी।।५।।
ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्म-मल, वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगें शर्म अनन्ता।।
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर-आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजै।।६।।

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं।
पुद्‌गल पंच वरन रस गन्ध दो, फरस वसू जाके हैं।।
जिय पुद्‌गल को चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी।
तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन बिन मूर्ति निरूपी।।७।।
सकल द्रव्य को वास जास में, सो आकाश पिछानों।
नियत वर्तना निस-दिन सो, व्यवहारकाल परमानों।।
यों अजीव अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरति अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा।।८।।
ये ही आतम को दुख कारण, तातैं इनको तजिये।
जीव प्रदेश बँधे-विधि सौं, सो बन्धन कबहुँ न सजिये।।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये।
तप-बल तैं विधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये।।९।।
सकल कर्म तैं रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी।
इह विधि जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी।।
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
ये हु मान समकित को कारण, अष्ट अंगजुत धारो।।१०।।
वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो।
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित पागो।।
अष्ट अंग अरु दोष पचीसौं, तिन संक्षेपहु कहिये।
बिन जाने तैं दोष-गुनन को, कैसे तजिये गहिये।।११।।
जिन-वच में शंका न धार, वृष भव-सुख-वांछा भानै।
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व कुतत्त्व पिछानै।।
निज-गुण अरु पर-औगुण ढाँके, वा जिन धर्म बढ़ावै।
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-पर को सुदिढ़ावै।।१२।।
धर्मी सों गौ-बच्छ प्रीति-सम, कर जिन-धर्म दिपावै।
इन गुन तैं विपरीत दोष वसु, तिनको सतत खिपावै।।

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तो मद ठानै।
मद न रूप कौ, मद न ज्ञान कौ, धन-बल कौ मद भानै।।१३।।
तप कौ मद न मद जु प्रभुता कौ, करै न सो निज जानै।
मद धारै तो येहि दोष वसु, समकित को मल ठानै।।
कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की, नहिं प्रशंस उचरै है।
जिन-मुनि जिन-श्रुत बिन कुगुरादिक, तिन्है न नमन करै है।।१४।।
दोष-रहित गुण-सहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजै हैं।
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।।
गेही पै, गृह में न रचे ज्यों, जल तैं भिन्न कमल है।
नगर-नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है।।१५।।
प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षँढ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक् धारी।।
तीनलोक तिहुँकाल माहिं नहिं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धरम को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी।।१६।।
मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान-चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारौ भव्य पवित्रा।।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मलिन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।१७।।

चौथी ढाल

(दोहा)

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रकटावन भान।।१।।

(रोला)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जान, दुहू में भेद अबाधौ।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपक तैं होई।।२।।

तास भेद दो हैं परोक्ष, परतछि तिन माहीं।
मति-श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मन तैं उपजाहीं॥
अवधि मनपर्जयज्ञान, दो हैं देश प्रतच्छा।
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये, जानै जिय स्वच्छा॥३॥
सकल द्रव्य के गुन अनन्त, परजाय अनन्ता।
जानैं एकै काल प्रकट, केवलि भगवन्ता॥
ज्ञान-समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण॥४॥
कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥
मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतम-ज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ॥५॥
तातैं जिनवर कथित, तत्त्व-अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपौ लख लीजै॥
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवौ जिनवानी।
इह विधि गये न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी॥६॥
धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै॥
तास ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानो।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनो॥७॥
जे पूरब शिव गये, जाहिं अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं॥
विषय चाह दव दाह, जगत जन अरनि दझावै।
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै॥८॥
पुण्य-पाप फल माहिं, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई॥

लाख बात की बात, यहै निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, निज आतम ध्याओ॥९॥
सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि, दृढ़ चारित लीजै।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै॥
त्रसहिंसा को त्याग, वृथा थावर न सँहारै।
पर-वधकार कठोर निंद्य, नहिं वयन उचारै॥१०॥
जल मृतिका बिन और, नाहिं कछु गहै अदत्ता।
निज वनिता बिन सकल, नारि सों रहे विरत्ता॥
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै।
दश दिशि गमन-प्रमान ठान, तसु सीम न नाखै॥११॥
ताहू में फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमान, ठान अन सकल निवारा॥
काहू की धन-हानि, किसी जय-हार न चिन्तैं।
देय न सो उपदेश, होय अघ बनिज कृषी तैं॥१२॥
कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै।
असि धनु हल हिंसोपकरन, नहिं दे जस लाधै॥
राग-द्वेष करतार कथा, कबहूँ न सुनीजै।
और हु अनरथदण्ड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजै॥१३॥
धरि उर समता भाव, सदा सामायिक करिये।
परब चतुष्टय माहिं, पाप तज प्रोषध धरिये॥
भोग और उपभोग, नियम करि ममत निवारै।
मुनि को भोजन देय, फेर निज करहिं अहारै॥१४॥
बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै।
मरण समय संन्यास धारि, तसु दोष नशावै॥
यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहँ तैं चय नर-जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै॥१५॥

पाँचवी ढाल

(चाल छन्द)

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिंतैं अनुप्रेक्षा भाई॥१॥
इन चिन्तत सम-सुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिव-सुख ठानै॥२॥
जोबन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रीय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥
सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र-तन्त्र बहु होई, मरतैं न बचावे कोई॥४॥
चहुँ गति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार-असारा, यामैं सुख नाहिं लगारा॥५॥
शुभ-अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक हि तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी॥६॥
जल-पय ज्यौं जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा॥७॥
पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहै घिनकारी, अस देह करै किम यारी॥८॥
जो योगन की चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हैं निरवेरे॥९॥
जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥
निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥११॥
किन हू न कर्त्यो न धरै को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माहिं बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता॥१२॥

अन्तिम ग्रीवक लौं की हद, पायो अनन्त बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ।।१३।।
जे भावमोह तैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै।।१४।।
सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी।।१५।।

छठवीं ढाल

(हरिगीतिका)

षट् काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी।।
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं।
अठ-दश सहस विधि शील धर, चिद्‌ब्रह्म में नित रमि रहैं।।१।।
अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दशधा तैं टलैं।
परमाद तजि चउ कर मही लखि, समिति ईर्य्या तैं चलैं।।
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तैं अमृत झरैं।।२।।
छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनैं घर अशन को।
लैं तप बढ़ावन हेत नहिं तन, पोषते तजि रसन को।।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखि कैं गहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल, मूत्र श्लेषम परिहरैं।।३।।
सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते।।
रस रूप गन्ध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्रिय जयन पद पावने।।४।।
समता सम्हारैं थुति उचारैं वन्दना जिनदेव को।
नित करैं, श्रुति-रति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को।।

जिनके न न्हौन न दन्तधोवन, लेश अम्बर आवरन।
भू माहिं पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करन ।।५।।
इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज-पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह, सों लगे निज-ध्यान में।।
अरि-मित्र महल-मसान कंचन-काँच निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन में, सदा समता धरन।।६।।
तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रत्नत्रय सेवैं सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरैं, चहैं नहिं भव-सुख-कदा।।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।
जिस होत प्रकटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।।७।।
जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया।।
निज माहिं निज के हेतु, निज कर आपको आपै गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ।।८।।
जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एकै लसा।।९।।
परमाण-नय-निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग-ज्ञान-सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विषै।।
मैं साध्य-साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित्पिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुणकरण्ड, च्युति पुनि कलनि तैं।।१०।।
यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यौ।।
तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउ घाति विधि कानन दह्यौ।
सब लख्यौ केवलज्ञान करि, भविलोक कों शिवमग कह्यौ।।११।।

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिन माहिं अष्टम भू बसैं।
वसु कर्म विनसै सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं॥
संसार खार अपार, पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये॥१२॥
निज माहिं लोक अलोक, गुण-परजाय प्रतिबिम्बित भये।
रहि हैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये॥
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया।
तिन ही अनादि भ्रमण पंच प्रकार, तजि वर सुख लिया॥१३॥
मुख्योपचार दुभेद यों, बड़भागि रत्नत्रय धरैं।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-मल हरैं॥
इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ॥१४॥
यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निज-पद बेइये॥
कहा रच्यो पर-पद में न तेरो पद यहै क्यों दुख सहै।
अब 'दौल' होउ सुखी स्व-पद रचि दाव मत चूको यहै॥१५॥

(दोहा)

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज शुकल वैशाख।
कर्‍यो तत्त्व उपदेश यह, लखि 'बुधजन' की भाख॥
लघु-धी तथा प्रमादतैं, शब्द-अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पाओ भव-कूल॥१६॥

* * *

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. 1992 तदनुसार शनिवार, दिनांक 25 मई, 1935 को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम. ए., पी-एच.डी. हैं। समाज द्वारा महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागम विशारद, तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म शिरोमणि, वाणीविभूषण, जैनरत्न, विद्यावारिधी और विद्वत् शिरोमणि आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसिट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप तेईस बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैन जगत में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी 64 पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गई है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ 40 लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्रीवाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी तथा मराठी के आप सम्पादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलनेवाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधयों के संचालन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान हैं।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के महामन्त्री तथा राजस्थान विश्वविद्यालय के सीनेटर भी हैं।

इसके अतिरिक्त भारत जैन महामण्डल, दिगंबर जैन महासमिति, अ.भा.दि.जैन परिषद् जैसी अनेक संस्थाओं के आप संरक्षक हैं।